श्रीविश्वनाथो जयति ।

शास्त्र-चन्द्रिका ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

भारतधर्म सिण्डिकेटके
शास्त्रप्रकाशक विभाग द्वारा
प्रकाशित ।

काशी ।

गणपति कृष्ण गुर्जर द्वारा भारतधर्म प्रेसमें मुद्रित ।

सन् १६२५ ई० ।

प्रथम आवृत्ति ।] [मूल्य १॥)

श्रीविश्वनाथ अन्नपूर्णा दानभण्डार।

श्रीभारतधर्म महामण्डल प्रधान कार्यालय काशीमें दीन दुखियोंके दुःखनिवारणार्थ यह सभा स्थापित की गई है। इस सभाके द्वारा अति विस्तृत रीतिपर शास्त्र-प्रकाशनका कार्य प्रारम्भ किया गया है। इस सभा द्वारा धर्म-पुस्तिका पुस्तकादि यथासम्भव बिना मूल्य वितरण करनेका भी विचार रक्खा गया है। इस दानभण्डारके द्वारा महामण्डलसे प्रकाशित साधुओंका कर्तव्य, धर्म और धर्माङ्ग, दान-धर्म नारी-धर्म, महामण्डलकी आवश्यकता आदि कई एक हिन्दी भाषाके धर्मग्रन्थ और अंग्रेजी भाषाके कई एक ट्रेक्ट्स् बिना मूल्य योग्य पात्रोंको बांटे जाते हैं। शास्त्र-प्रकाशनकी आमदनी इसी दान-भण्डारसे दीन दुःखियोंके दुःखनिवारणार्थ व्यय की जाती है। इस सभामें जो दान करना चाहें या किसी प्रकारका पत्राचार करना चाहें, वे निम्न लिखित पतेपर पत्र भेजें।

सेक्रेटरी, श्रीविश्वनाथ अन्नपूर्णा दानभण्डार,

श्रीभारतधर्म महामण्डल, प्रधान कार्यालय

जगतगञ्ज, बनारस (छावनी।)

श्रीविश्वनाथो जयति।

शास्त्र-चन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

भारतधर्म सिण्डिकेटके
शास्त्रप्रकाशक विभागके द्वारा
प्रकाशित।

काशी।

गणपति कृष्ण गुर्जर द्वारा भारतधर्म प्रेसमें मुद्रित।

प्रथम आवृत्ति।] सन् १९२५ ई०। [मूल्य १॥)

विज्ञापन ।

अज्ञाननाशिनी और ज्ञानजननीको विद्या कहते हैं। विद्या दो भागमें विभक्त है, एक पराविद्या और दूसरी अपराविद्या। गुरुमुखसे प्राप्त होनेवाली ब्रह्मविद्या पराविद्या कहाती है। पराविद्या ग्रन्थोंसे नहीं प्रकाशित होती। परन्तु ग्रन्थोंसे प्रकाशित होनेवाली विद्याको अपराविद्या कहते हैं। अपराविद्या भी पुनः दो भागमें विभक्त है, यथा लौकिक विद्या और पारलौकिक विद्या। शिल्प, कला, वाणिज्य, पदार्थ विद्या, सायन्स, राजनीति, समाजनीति, युद्ध-विद्या, चिकित्साविद्या, आदि सब लौकिक विद्याके अन्तर्गत हैं और वेद और वेद-सम्मत दर्शन पुराणादि शास्त्र सब पारलौकिक विद्याके अन्तर्गत माने गये हैं। पारलौकिक विद्याके दिग्दर्शनार्थ यह ग्रन्थ इस विचारसे बनाया गया है कि, जिससे विद्यार्थियोंको धर्मशिक्षा प्राप्त करनेमें सहायता प्राप्त हो सके।

स्कूल कालेज पाठशाला आदिके विद्यार्थियोंको तथा गृहमें बालकोंको धर्मशिक्षाके निमित्त हिन्दू जातिकी विराट् धर्मसभा श्रीभारतधर्ममहामण्डलके साधु तथा विद्वानोंकी सहायतासे अनेक ग्रन्थ प्रणीत होकर प्रकाशित हुए हैं, यथाः—सदाचारसोपान, धर्म-प्रश्नोत्तरी, धर्मसोपान, चरित्रचन्द्रिका, नीतिचन्द्रिका, आचार-चन्द्रिका, नवीनदृष्टिमें प्रवीण भारत, साधनचन्द्रिका, प्रवीण दृष्टिमें नवीन भारत इत्यादि। उसी धर्मशिक्षालक्ष्यको सामने रखकर

यह ग्रन्थ प्रणीत हुआ है। इसके द्वारा स्कूल कालेज और पाठशालाओंके कार्य्यकर्त्तागण तथा बालकोंके मातापितागण बालकोंको धर्म्मशिक्षा देकर लाभवान् होंगे, यही आशा है।

यह ग्रन्थ भारतधर्म्मसिण्डिकेट लिमिटेडके पुस्तकप्रकाशक विभाग द्वारा प्रकाशित किया जाता है।

कवीन्द्र नारायण सिंह
जनरल सेक्रेटरी,
श्रीभारतधर्म्म महामण्डल।



सूचीपत्र।



यह
शा
ध
वि

विषय

शास्त्रचन्द्रिका।

वेद।

सकल शास्त्रोंका मूल वेद है, इस लिये प्रथमतः वेदके विषयमें कुछ विचार किया जाता है।

विद्धातुसे वेद शब्द निष्पन्न होनेके कारण जिसके द्वारा धर्माधर्मका तत्वज्ञान हो, वही वेद पदवाच्य है। वेद ज्ञानका भण्डार है और सब शास्त्र वेदसे ही उत्पन्न हुए हैं। वेद काण्डरूप है और इतर शास्त्र शाखा प्रशाखारूप हैं। वेद प्रधानतः दो प्रकारके हैं। यथाः—कण्ठाग्र और कल्प्य। जिन श्रुतियोंका ऋषियोंने प्रत्यक्ष किया था, उनको कण्ठाग्र कहते हैं और स्मृति या शिष्टाचारके द्वारा जिनका अनुमान किया जाता है, वे कल्प्य श्रुतियाँ कहलाती हैं। कण्ठाग्र श्रुति मन्त्रभेदके अनुसार त्रिविध है। यथाः—ऋग, यजुः और साम। इनका दूसरा नाम "त्रयी" है। ये ही कण्ठाग्र श्रुतियाँ अन्य प्रमाणसे चतुर्धा विभक्त हैं। यथाः—ऋग्, यजुः साम और अथर्व। आजकलकी भाषामें जिस प्रकार गद्य पद्य और गीत ये तीन श्रेणीके तीन अंग कथित हैं, उसी प्रकार वेदमें भी मिलते हैं। यथाः—प्रायः पद्यमें प्रकाशित मन्त्रोंका नाम ऋक्, गद्यमें प्रकाशित मन्त्रोंका नाम यजुः और गेय मन्त्रोंका नाम साम है। अथर्व वेदमें उक्त तीनोंके मिश्रित मन्त्र हैं। वेद विभागकर्त्ताओंके विषयमें दो प्रकारकी सम्मति मिलती है। पहिली सम्मति यह है, कि, भगवान् वेदव्यासने ही वेदोंको त्रिधा चतुर्धा विभक्त किया है, परन्तु किसी किसीकी सम्मति यह है कि, यज्ञ-

क्रियाओंकी सुविधाके लिये अथर्व ऋषिने वेदविभाग किया था। उन्होंने यज्ञकार्य्यके उपयोगी सूक्तसमूहको वेदत्रयके अन्तर्गत करके अन्यान्य सूक्तोंको अलग कर दिया था। प्रथम मतके लोग कहते हैं कि, ये ही अवशिष्ट सूक्त अथर्व वेदके नामसे प्रकाशित हुए थे। परन्तु द्वितीय मतके लोग कहते हैं कि, अथर्व ऋषिके नामसे ही अथर्व वेद ये संज्ञा हुई है। इस रीतिसे दो प्रकारकी सम्मति है। और इस विषयके प्रमाण भी श्रुतिमें मिलते हैं। शतपथमें लिखा है कि :—

अग्नेर्वा ऋग्वेदो जायते वायोर्यजुर्वेदः सूर्य्यात्सामवेदः।

अग्निसे ऋग्वेद, वायुसे यजुर्वेद और सूर्य्यसे सामवेद प्राप्त हुए हैं। मनुसंहितामें भी लिखा है कि :—

ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च।
एष ज्ञेयस्त्रिवृद्वेदो यो वेदैनं स वेदवित्॥

ऋग् यजुः और विविध प्रकार साम-मन्त्रोंको त्रिवृद्वेद कहते हैं। जो इसको जानता है वही वेदवेत्ता है। इसी तरहसे वेदके चार भागके विषयमें मुण्डकोपनिषद्में प्रमाण है। यथा :—

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः इत्यादि।

ऋक् आदि चार वेद अपरा विद्या है। और भी वाजसनेयि-ब्राह्मणोपनिषद्में कहा है कि :—

ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषद इत्यादि।

ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद और इतिहास पुराणादि सब अपरा विद्या है। अतः पृथक् पृथक् प्रमाण भेदानुसार वेदके दो प्रकारके विभाग हो सकते हैं। इन्हीं निखिल ज्ञानाधार वेदोंसे समस्त शास्त्रोंकी उत्पत्ति हुई है।

ज्ञान नित्य वस्तु है, इस कारण प्रलयके समय भी ज्ञानरूपी वेद ओंकाररूपसे नित्य स्थित रहते हैं। श्रीभगवान् वेदव्यासजी-ने कहा है किः—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी विद्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

श्रीभगवान्‌के वाक्यरूपी वेद अनादि नाशविहीन तथा नित्य हैं। वेद ही सृष्टिकी प्रथम अवस्थामें प्रकाशित आदि विद्या है। इससे ही सकल प्रपञ्चका विस्तार होता है। अतः कुल्लूक भट्टजीने लिखा है किः—

प्रलयकालेऽपि सूक्ष्मरूपेण परमात्मनि वेदराशिः स्थितः।

प्रलयके समयमें भी परमात्मामें सूक्ष्मरूपसे वेदकी स्थिति रहती है। श्रीमेधातिथि आचार्य्यजीने भी लिखा है किः—

नैव वेदाः प्रलीयन्ते महाप्रलयेऽपि।

महाप्रलयमें भी वेदोंका नाश नहीं होता है। वेद मनुष्यके द्वारा प्रणीत नहीं हुए हैं, इस कारण वे अपौरुषेय कहाते हैं। वेद ईश्वरकृत हैं, ज्ञान नित्य और ब्रह्मका स्वरूप है। उसी ज्ञानके विकाश-रूप वेद हैं। इस लिये वेदोंको श्रीभगवान्‌के निश्वासरूपसे वर्णन किया गया है। यथा वाजसनेयि ब्राह्मणोपनिषद्‌में:—

अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् यदृग्वेदो
यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं
विद्या उपनिषद् इत्यादि।

समस्त वेद निश्वासकी रीतिसे स्वाभाविकरूपसे परमात्माके द्वारा प्रकट हुए हैं। कृष्णयजुर्वेदीय श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में लिखा है किः—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

परमात्माने पहले ब्रह्माजीको उत्पन्न करके उनको वेद प्रदान किया।

दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।

उस विराट् परम पुरुषके श्रवणेन्द्रिय दिशा है और वाक्य वेद-रूप है। श्रीगीताजीमें लिखा है कि:—

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।

कर्म वेदसे उत्पन्न है और वेद अक्षर परमात्मासे उत्पन्न है। ऋषिलोग वेदके कर्त्ता नहीं, परन्तु द्रष्टामात्र हैं। वेद नित्य वस्तु है। केवल ऋषियोंके समाधिशुद्ध अन्तःकरणमें प्रकाशको प्राप्त होते हैं। इस लिये कहा है कि:—

ब्रह्माद्या ऋषिपर्य्यन्ताः स्मारका न तु कारकाः।

ब्रह्मासे लेकर ऋषिपर्य्यन्त कोई भी वेदके कर्त्ता नहीं हैं, सबही उसके स्मरण करनेवाले हैं। और भी स्मृतिमें कहा है कि:—

युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान् सेतिहासान्महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥

प्रलयकालमें अन्तर्हित वेदोंको सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माजीसे आज्ञा लेकर तपस्याके द्वारा महर्षियोंने प्राप्त किया था। यही सब भगवद्वाक्यरूपी वेदके संसारमें प्रकट होनेके विषयमें रहस्य पूर्ण प्रमाण हैं।

परमात्मा पूर्ण हैं, जीव अपूर्ण है। परन्तु जीवमें पूर्णताका बीज विद्यमान है। उसी बीजको परिपुष्ट और पूर्णतया प्रकट करके पूर्ण होना ही सकल साधन और शास्त्रका लक्ष्य है। जो शास्त्र जीवको पूर्ण बनाकर ब्रह्मरूप कर देवे वही शास्त्र पूर्ण है। जितने मनुष्यकृत शास्त्र हैं उनकी आलोचना करनेसे विचारवान् पुरुषको मालूम होगा कि, सबही शास्त्र प्रकृतिका आंशिक वर्णन करते हैं। कहीं किसी अंशका एवं कहीं और किसी अंशका वर्णन

है। यहाँ किसी विषयको मुख्य रखकर दूसरेको गौण किया है, इत्यादि। परन्तु अपौरुषेय वेदमें यह अपूर्णता कुछ भी नहीं है। यदि ऐसा होता तो वेद भगवान्का वाक्य नहीं होता। यह बात विज्ञान-सिद्ध है कि, पूर्ण प्रकृति ही पूर्ण ब्रह्मका प्रकट कर सकती है। भारत पूर्ण प्रकृतिसे युक्त है, इस लिये मोक्षभूमि कहलाता है। अपूर्ण जीवकी पूर्णता और ब्रह्मभाव-प्राप्तिके द्वारा मुक्ति तब ही होगी जब जैवप्रकृति पूर्णताको प्राप्त करेगी। प्रकृति स्थूल, सूक्ष्म कारण अथवा अधिभूत, अधिदैव, अध्यात्म, तीन पर्व्वसे युक्त है। मनुष्यमें ये तीन पर्व अधूरे हैं। अतः आधिभौतिक पूर्णता, आधिदैविक पूर्णता और आध्यात्मिक पूर्णता मनुष्योंको प्राप्त होनेपर तब जीव (मनुष्य जीव) ब्रह्मरूप बन सकता है। इस लिये जिस शास्त्रमें आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक त्रिविध शुद्धिके लिये उपाय पूर्णतया बताये गये हैं, वही शास्त्र पूर्ण और भगवान्का वाक्य होगा। जीवके लिये आधिभौतिक शरीर है, आधिदैविक मन है और आध्यात्मिक बुद्धि है। शरीरकी शुद्धि कर्म्मके द्वारा, मनकी शुद्धि उपासनाके द्वारा और बुद्धिकी शुद्धि ज्ञानके द्वारा हुआ करती है। अतः जिस शास्त्रमें समानरूपसे कर्म्म, उपासना और ज्ञान, तीनोंका उपदेश पूर्णतया हो वही भगवद्वाक्य होगा। गीताके १८ अठारह अध्यायोंमें कर्म्म, उपासना और ज्ञानका उपदेश समानरूपसे है। प्रथम ६ छः अध्यायोंमें विशेष करके कर्म्मका, दूसरे ६ छः अध्यायोंमें विशेष करके उपासनाका और तीसरे ६ छः अध्यायोंमें विशेष करके ज्ञानका वर्णन है। किसी ओर थोड़ा भी पक्षपात नहीं है, क्योंकि गीता साक्षात् भगवान्का मुखनिःसृत वाक्य है। यही गुण वेदमें भी देखनेमें आता है। इसी लिये वेद संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक या उसीके विस्ताररूप उपनिषद् इन तीन भागोंमें विभक्त है। इसमें

गीताकी तरह तीनों भागोंमें ही कर्म्म, उपासना और ज्ञानका वर्णन होनेपर भी संहिताभागमें प्रधानतया उपासनाकाण्डका, ब्राह्मणभागमें कर्म्मकाण्डका और उपनिषद्भागमें प्रधानतया ज्ञानकाण्डका वर्णन है। परमात्मा सच्चिदानन्दरूप हैं। उनकी सत्सत्ताके साथ कर्म्मका, आनन्दसत्ताके साथ उपासनाका और चित्सत्ताके साथ ज्ञानका सम्बन्ध है। वेद अपने संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद्रूपी तीन भागके द्वारा कर्म्म, उपासना और ज्ञानका पूर्ण साधन बताकर जीवको सच्चिदानन्दकी उपलब्धि कराता है और पूर्ण ब्रह्मभावमें प्रतिष्ठित करता है। यही वेदका अपौरुषेयत्व है, इसमें सन्देह नहीं।

वेदमें जो ऋषि छन्द और देवताका वर्णन आता है उसका तात्पर्य्य यह है कि, जिन जिन त्रिकालदर्शी महर्षियोंके चित्तमें स्वतन्त्र स्वतन्त्र श्रुतियाँ प्रथम आविर्भूत हुई थीं, अर्थात् जिन जिन आचार्योंके द्वारा वे मन्त्र प्रकाशित हुए हैं वे ही उन मन्त्रोंके ऋषि कहाते हैं, जिन जिन छन्दोंमें वे श्रुतियां कही गई हैं, सो उन उन वेदमन्त्रोंके छन्द कहाते हैं और जिन जिन श्रुतियोंके द्वारा जिन जिन भगवच्छक्तियोंकी उपासना की जाय, वे उपास्य शक्ति उन उन श्रुतियोंके देवता कहाते हैं। इसी नियमके अनुसार प्रत्येक मन्त्रके साथ ऋषि देवता और छन्दके उल्लेख करनेकी विधि वेदोंमें पाई जाती है। इसका प्रयोजन यह है कि, छन्दके परिज्ञात होनेसे उस मन्त्रकी आधिभौतिकशक्तिका ज्ञान होगा, क्योंकि प्रत्येक वैदिक छन्दोंकी शक्ति अलग अलग होती है। उक्त छन्दोंके अनुसार स्वतन्त्र कार्य्य करनेकी व्यवस्था वेदके ब्राह्मणभागमें बहुधा पाई जाती है। देवताके ज्ञानसे उक्त मन्त्रकी अधिदैव शक्तिका ज्ञान होता है और ऋषिके ज्ञान होनेसे उक्त मन्त्रकी आध्यात्मिक शक्तिपर लक्ष्य होता है। वेदके कर्म्म तथा उपासनाकाण्डमें स्वर्गादि फलप्रद सकाम साध-

नोंका बहुधा वर्णन होनेसे उसमें इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि दैवी शक्तियोंकी स्तुति की गई है। इस रहस्यको न समझकर बहुतसे वृथा वेद-ज्ञानाभिमानी मनुष्योंने धातुओंके अनेक अर्थ होनेसे उन सब देवताओंके नामोंको एक ईश्वरके नामपर ही लगाकर वर्णन किया है। सो उनकी भूल है।

वेदोंकी भाषा साधारण संस्कृत भाषासे कुछ अपूर्व तथा विलक्षण ही है, जिसपर विचार करनेसे वेदकी भाषाका लोक-विलक्षणत्व और भावकी गम्भीरता स्वतः ही प्रमाणित हुआ करती है। अपने आर्य्य जातिगत विचारोंके अनुसार सृष्टिके आदि कालसे ही वेदोंका सम्बन्ध माना जाता है। स्मृतिमें लिखा है कि :—

युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥

महर्षि लोगोंने ब्रह्माजीसे आज्ञा प्राप्त होकर सृष्टिके पहले प्रलयकालमें अन्तर्हित इतिहाससंयुक्त वेदोंको तपस्याके द्वारा प्राप्त किया। पाश्चात्य पण्डितोंने वेदका जन्मकाल निर्णय करनेके लिये बहुत ही बुद्धि खर्च की है। किन्हीं किन्हीं पाण्डित्याभिमानी पश्चिमी विद्वानोंने तो ईसामसीहके जन्मसे दो हज़ार वर्ष पहले वेद हुआ था, ऐसा कहा है। और लोगोंकी और प्रकारकी सम्मति है। परन्तु किसी सम्मतिके साथ किसीका मेल नहीं है। तात्पर्य्य यह है कि, किसीको भी पता नहीं चला और अन्तमें सबको ही कहना पड़ा कि, पृथ्वी भरमें वेदोंसे प्राचीन कोई भी ग्रन्थ दृष्टिगोचर नहीं होता। फलतः अब्रान्त वैदिक विज्ञानके अनादित्व और वैदिक भाषाके अति प्राचीनत्वको इस संसारके सभी बुद्धिमान् तथा विद्वान् लोग एक वाक्यसे स्वीकार करते हैं।

अनन्ता वै वेदाः।

वेद अनन्त हैं। वेदोंके अनन्त होनेपर भी इस कल्पके वेदोंकी संख्या पाई जाती है। इस संख्यामें मतभेद भी है। महाभाष्यमें लिखा है कि :—

चत्वारो वेदाः सांगाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः एक-
शतमध्वर्य्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः एकविंशतिधा
बाह्वृच्यं नवधा आथर्वणो वेदः।

अंग और रहस्यसे युक्त चार वेद बहुत शाखामें विभक्त हैं। यथा-यजुर्वेदकी १०१ शाखा, सामवेदकी १००० शाखा, ऋग्वेदकी २१ शाखा और अथर्ववेदकी ९ शाखा हैं। स्कन्दपुराणमें लिखा है कि :—

अवतीर्णो महायोगी सत्यवत्यां पराशरात्।
उत्सन्नान्भगवान्वेदानुज्जहार हरिः स्वयम्॥
ऋचः स ऋचमुद्धृत्य ऋग्वेदं कृतवान्प्रभुः।
यजूँषि निगदांश्चैव तथा सामानि सामतः॥
चतुर्धा व्यभजत्तांश्च चतुर्विंशतिधा पुनः।
शतधा चैकधा चैव तथैव च सहस्रधा॥
कृष्णो द्वादशधा चैव पुनस्तस्यार्थवित्तये।
चकार ब्रह्मसूत्राणि येषां सूत्रमसंज्ञया॥

स्कन्दपुराणके अनुसार एक वेदपहले भगवान् वेदव्यासके द्वारा ४ भागमें विभक्त हुए और तदनन्तर उसीके ११३७ भाग हुए जिनको शाखा कहते हैं। यथा-ऋग्वेदकी २४ शाखा, यजुर्वेदकी १०१, सामवेदकी १००० और अथर्ववेदकी १२ शाखा हैं। इत्यादि। मुक्तिकोपनिषद्में वेदकी ११८० शाखाओंका प्रमाण मिलता है। यथा :—

ऋग्वेदस्य शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः।
नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज!॥

सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परन्तप !।
अथर्वस्य तु शाखाःस्युः पञ्चाशद्भेदतो हरे ! ॥

ऋग्वेदको २१ शाखाएँ, यजुर्वेदकी १०६, सामवेदकी १०००, और अथर्ववेदकी ५० शाखाएँ हैं। परन्तु महान् शोकका विषय है कि, वर्त्तमान कालप्रभावसे कारण वेदोंकी इतनी शाखाएँ रहनेपर भी आजकल केवल सात आठ शाखाएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं। वेदका आविर्भाव तिरोभाव जीवोंके कर्मानुसार हुआ करता है। वर्त्तमान सृष्टिके इस कल्पकी जितनी शाखाओंमें अपौरुषेय वेदका विस्तार हुआ था, उन प्रत्येक शाखाओंके स्वतन्त्र स्वतन्त्र मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग, आरण्यकभाग और उपनिषद्भाग, वेदाङ्गमें सूत्र और प्रातिशाख्यके भेदसमूहपर ही विचार करनेसे परिज्ञात होगा कि, इस कल्पमें भी वेदोंका कितना महान् विस्तार था।

सर्वजीवहितकारी वेदोंमें ज्ञानसम्बन्धीय अनन्त विषय रहनेपर भी विज्ञानसम्बन्धीय गूढ़ रहस्य हैं। अपि च वेदोंकी भाषा बहुत सारगर्भ, संक्षिप्त, गम्भीर और वैज्ञानिकभावयुक्त होनेके कारण साधारण बुद्धिगम्य नहीं है। इसी कारण अल्पदर्शी विद्वान् लोगोंके बहुधा वेदार्थ समझनेमें विचलित होनेके कारण उनमें मतभेद और अनेक सन्देह तथा अप्रवृत्ति वृत्तियोंका उदय हुआ करता है। परन्तु यथार्थमें शब्दब्रह्मरूपी वेद मूर्त्तिमान् ब्रह्मरूप ही हैं। जिस प्रकार एक अद्वितीय ब्रह्म त्रिगुणभेदानुसार ब्रह्मा विष्णु और शिवरूप त्रिदेवमूर्त्ति धारण कर, सृष्टिकी उत्पत्ति स्थिति और लयकार्य्य किया करते हैं, उसी प्रकार अपौरुषेय वेद भी उपासना कर्म्म और ज्ञानके प्रकाशार्थ संहिता ब्राह्मण और उपनिषद्रूपी त्रिमूर्त्तिको धारण कर सकल संसारके कल्याणमें प्रवृत्त हैं। वेद तीन भागमें विभक्त हैं। यथा—मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग और आरण्यक। आरण्यक ही उपनिषद्का मूल है। आरण्यकमें ब्रह्मतत्त्वके

जो मूलसूत्र हैं, उनका ही विस्तार उपनिषद्में किया गया है। उपनिषद् निवृत्तिसेवी वानप्रस्थ और सन्यासियोंके लिये संगृहीत हुए हैं। जिसके द्वारा ब्रह्मका सामीप्यलाभ हो उसे उपनिषद् कहते हैं। उनका मूलीभूत आरण्यकभाग इस लिये आरण्यक कहलाता है कि, प्राचीनकालमें तपोवन अनेक थे, वानप्रस्थाश्रमी वहीं वास करते थे और संन्यासीलोग भी वहीं विचरण किया करते थे, अतः अरण्यमें ही प्रकाशित होनेसे आरण्यक नाम पड़ा है। परमपवित्र उपनिषद्समूह मुक्तिपद प्राप्तिके प्रधान अवलम्बन हैं। ब्राह्मणभाग और संहिताभाग प्रधानतः कर्म्मकाण्ड और उपासनाकाण्डके अवलम्बनीय हैं। यद्यपि सब वेद एक ही हैं, तथापि कर्म्माधिकार भेदसे उक्त प्रकार सङ्कलित किये गये हैं, और ऋक्, यजुः साम और अथर्व्व ये भी तत्तन्नामोक्त चार प्रकारकी स्वतन्त्र स्वतन्त्र श्रुतियोंके विभाग कर देनेसे चार वेद कहलाने लगे हैं। वास्तवमें इन तीन विभाग और चार संज्ञाओंसे युक्त वेद एकही है। ऋक्, यजुः, साम और अथर्व्व श्रेणीके अनुसार जो शाखाओंकी संख्या पहले कह आये हैं, उसमें प्रत्येक शाखाके अलग अलग मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग और आरण्यकभाग थे। परन्तु इस समयमें जितना वेद प्रकट हुआ था, उसका सहस्रांश भी नहीं मिलता। अनेक विप्लव, जातीय दुर्भाग्य और दुर्घटनाओंके कारण वेदके प्रधान प्रधान अंश लुप्त हो गये हैं, तथापि अब जितना अंश मिलता है, वह भी आर्य्यजातिके लिये इस आपत्कालमें विशेष कल्याणप्रद है।

अब चारों वेदोंके विषय जितना कि, सम्भव है, कुछ कुछ वर्णन किये जाते हैं। ऋग्वेदसंहिता दस मण्डलमें विभक्त है। उन मण्डलोंमें ८५ अनुवाक हैं। अनुवाकसमूहमें १०२८ सूक्त देखनेमें आते हैं। आज कलके प्रचलित ग्रन्थोंमें जिस प्रकार खण्ड परिच्छेद

तथा भिन्न भिन्न विषय कहे जाते हैं, मण्डल अनुवाक और सूक्त आदि उन्हींके अनुरूप हैं। ऋग्वेदके प्रथम मण्डलमें २४, द्वितीयमें ४, तृतीयमें ५, चतुर्थमें ५, पञ्चम षष्ठ और सप्तमके हरेकमें ६, अष्टममें १०, नवममें ७ और दशम मण्डलमें १२ अनुवाक हैं। प्रत्येक मण्डलमें सूक्त संख्या यथा—प्रथम मण्डलमें १६१, द्वितीयमें ४, तृतीयमें ६२, चतुर्थमें ५८, पञ्चममें ८७, षष्ठमें ७५, सप्तममें १०४, अष्टममें १०३, नवममें ११४ और दशम मण्डलमें १६१ सूक्त हैं। सूक्तके बहुत भेद हैं। यथा-महासूक्त, मध्यमसूक्त, क्षुद्रसूक्त, ऋषिसूक्त, छन्दसूक्त और देवतासूक्त। मण्डल अनुवाक और सूक्त आदिके साथ ही शास्त्रमें ऋग्वेदकी मन्त्रसंख्या, प्रत्येक मन्त्रकी पदसंख्या और शब्दांशका परिमाण भी निर्दिष्ट है। परन्तु दुःखका विषय है कि, इस प्रकार पदसंख्या और शब्द-समष्टियुक्त ऋग्वेद अब नहीं मिलते हैं। ऋग्वेदकी कवितासंख्याको लेकर ही आज कल बहुत मत मतान्तर हो गये हैं। बहुत लोगोंकी गणनामें वे १०४०२ से १०६२८ तक हैं। उनकी शब्दसंख्या १५३८२६ और शब्दांशकी संख्या ४३२००० है। परन्तु इसमें मतभेद भी है। विष्णुपुराणके तीसरे और चौथे अध्यायमें वर्णित है कि, भगवान् वेदव्यासने वेदविभाग करके पैलको ऋग्वेदसंहिता, वैशम्पायनको यजुर्वेदसंहिता, जैमिनीको सामवेदसंहिता और सुमन्तुको अथर्व्व-वेदसंहिताकी शिक्षा दी थी। पुनः पैलऋषिने ऋक्संहिताको दो भागमें विभक्त करके इन्द्रप्रमिति और वास्कलनामक अपने शिष्य-द्वयको प्रदान किया था। बौध्य, अग्निमातुर, जातुकर्ण और पराशर, वास्कल ऋषिके ये चार शिष्य थे। उन्होंने अपनी अधीत वेद-संहिताको चार भागमें विभक्त करके चार शिष्योंको सिखाया था। इन्द्रप्रमितिने जिस संहिताका अध्ययन किया था, उसे उसने अपने पुत्र माण्डुकेयको पढ़ाया। माण्डुकेयके द्वारा उनके पुत्र शाकल्य एवं

शिष्य देवमित्र और सौमरि आदिके भीतर इसका प्रचार हुआ था। पुनः शाकल्यने भी पांच संहिता संकलित करके मुद्गल, गालव, वात्स्य, शालीय और शैशिर नामक अपने पांच शिष्योंको उपदेश किया था। इस तरहसे ऋग्वेद बहुत प्रकारसे बहुत शाखामें विभक्त हो गये। शाखाओंके अनुसार मण्डल तथा अनुवाक आदिके भी बहुत नाम हैं। शौनकमुनिने अपने रचित 'चरणव्यूह' ग्रन्थमें लिखा है कि "ऋग्वेद संहिताके आठ भाग या स्थान हैं। उनके नाम ये हैं—अर्चक, चर्चक, श्रवणीयपार, क्रमपार, क्रमरथ, क्रमजटा, क्रमदण्ड और क्रमरुद्र। वे सब भेद चार पारायणमें विभक्त हैं, ऋग्वेदकी पांच शाखा हैं। उनके नाम ये हैं। आश्वलायन, साङ्ख्यायन, शाकल, वास्कल और माण्डूक। उसमें अध्याय ६४ हैं, मण्डल १०, वर्गसंख्या २००६, सूक्त १०१७, पदक्रम-वाशिष्ठके १५२५१४ और दूसरेके ५८,ऋक्के १०५८० पद, पारायण नामसे अभिहित हैं। प्रथम अष्टकमें एक वर्ग और एक ऋक्, द्वितीय अष्टकमें दो वर्ग और दो ऋक्, तृतीयमें १०० ऋक्, चतुर्थमें १७५ ऋक्, पञ्चममें १६३५ ऋक्, षष्ठमें ३०० ऋक्, सप्तममें २० ऋक् और अष्टममें ५५ ऋक् हैं।" चरणव्यूहकी सम्मतिमें वेदके बहुत अध्याय अब नहीं मिलते हैं। लुप्त हो गये हैं। महाभाष्यके अनुसार ऋग्वेदकी २१ शाखा हैं। परन्तु २१ शाखाकी तो बात ही क्या, अब ५ शाखा भी नहीं मिलती हैं। आज कल केवल शाकलशाखा ही प्रचलित है ऐसा बहुत लोगोंका विश्वास है। वास्कलशाखाकी कविता संख्या १०६२२ और शाकलशाखाकी कविता संख्या १०३०१ है, परन्तु इस गणनामें भी मतभेद है। भारतवासियोंके दुर्भाग्यवशात् वेदका बहुधा लुप्त होना ही इस प्रकार मतभेदका प्रधान कारण है। ऋग्वेदके ब्राह्मण दो हैं। यथा ऐतरेय और कौषितकी या सांख्यायन। ऐतरेय ब्राह्मण = पञ्जिकामें

विभक्त हैं। प्रत्येक पञ्जिका पांच अध्यायमें और प्रत्येक अध्याय बहुतसे काण्डोंमें विभक्त हैं। ऋग्वेदके आरण्यकका नाम ऐतरेय आरण्यक है। इसमें पांच आरण्यक और अट्ठारह अध्याय हैं।

यजुर्वेद प्रधानतः दो भागमें विभक्त है। यथा-शुक्ल और कृष्ण। कृष्ण यजुर्वेदसंहिताका अन्य नाम तैत्तरीयसंहिता है। चरणव्यूहके मतानुसार कृष्णयजुर्वेदकी ८६ शाखा हैं। यजुःकी महाभाष्यके मतानुसार १०१ हैं और मुक्तिकोपनिषद्के मतानुसार १०६ हैं। परन्तु आजकल यजुर्वेदकी केवल १२ शाखा और १४ उपशाखाके नाम मिलते हैं। शाखाओंके नाम-चरक, आह्वरक, कठ, प्राच्यकठ, कपिष्ठलकठ, औपमन्य, आष्टलकठ, चारायणीय, वारायणीय, वार्त्तान्तवेय, श्वेताश्वतर और मैत्रायणीय हैं। तैत्तरीय शाखाकी दो उपशाखा हैं। औख्य और खाण्डिकेय। खाण्डिकेय उपशाखाकी पांच प्रशाखा हैं। आपस्तम्बी, बौधायनी, सत्याषाढी, हिरण्यकेशी और औधेय। मैत्रायणीय शाखाकी ७ उपशाखा हैं। मानव, दुन्दुभ, चैकेय, वाराह, ह्रवेय, श्याम, और श्यामायनीय। इन सब उपशाखा और प्रशाखाओंकी संख्या चौदह हैं। मन्त्र ब्राह्मणात्मक कृष्ण यजुर्वेदमें अट्ठारह हजार मंत्र हैं। इसके मन्त्रभाग तैत्तरीयसंहितामें ७ अष्टक हैं। प्रत्येक अष्टक ७, ८ अध्यायमें विभक्त हैं। अध्यायको प्रश्न और अष्टकको प्रपाठक भी कहते हैं। प्रत्येक अध्यायमें बहुतसे अनुवाक् हैं। इस ग्रन्थमें कुल ७०० अनुवाक् हैं। प्रजापति सोम आदि देवता इसके ऋषि हैं। इसमें अश्वमेध, अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, राजसूय, अतिरात्र आदि यज्ञोंका वर्णन है। कृष्ण यजुर्वेदके ब्राह्मणका नाम तैत्तरीय ब्राह्मण और आरण्यकका नाम तैत्तरीय आरण्यक है। ज्ञानकाण्डमें तैत्तरीय उपनिषद्के सिवाय शाखाओंके अनुसार मैत्रायणीय शाखाके मैत्रायणीय उपनिषद्,

कठशाखाके कठोपनिषद्, श्वेताश्वतर उपनिषद् और नारायणोपनिषद् आदि मिलते हैं।

शुक्ल यजुर्वेदका दूसरा नाम वाजसनेयसंहिता है। इसके ऋषि याज्ञवल्क्य हैं। इसमें १९०० और इसके ब्राह्मणमें ७६०० मन्त्र हैं। शुक्ल यजुर्वेदकी १७ शाखाएँ हैं। यथा—जाबाल, बौधेय, काण्व, माध्यन्दिन, शापीय, तापायनीय, कापाल, पौण्ड्रवत्स, आवटिक, परमावटिक, पाराशरीय, वैधेय, वैनेय, औधेय, गालव, वैजव, कात्यायनीय। वाजसनेयी संहिता ४० अध्याय, २९० अनुवाक और अनेक काण्डमें विभक्त है। दर्शपौर्णमास, अग्निष्टोम, वाजपेय, अग्निहोत्र, चातुर्मास्य, षोडशी, अश्वमेध, पुरुमेध, आदि यज्ञोंके वर्णन इसमें मिलते हैं। इसमें वैदिक युगकी सामाजिक रीति नीतिका भी वर्णन है। प्रसिद्ध "शतपथब्राह्मण" इसकी माध्यन्दिन शाखाके अन्तर्गत है। इसके दो भागमें १४ काण्ड हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् इन काण्डोंके अन्तर्गत है।

सामवेदकी सहस्र शाखाएँ थीं, उनमेंसे आसुरायणीय, वासुरायणीय, वार्तान्तरेय, प्राञ्जल, ऋग्वर्णभेदा, प्राचीनयोग्य, ज्ञानयोग्य, राणायनीय इतने नाम मिलते हैं। उनमें से राणायनीयके नौ भेद हैं। यथा—शाट्यायनीय, सात्वल, मौद्गल, खल्वल, महाखल्वल, लाङ्गल, कौथुम, गौतम, और जैमिनीय। आज कल सामवेदकी केवल कौथुम शाखा मिलती है। सामवेदके दो भाग हैं। पूर्व्व और उत्तर। पूर्व्वसंहिताके छः प्रपाठक हैं। इसका दूसरा नाम छन्द-आर्चिक है। सामवेदीय उद्गातागण इसीको गाते थे। इसको सप्तसाम भी कहते हैं। सामवेदके उत्तरभागका नाम उत्तरार्चिक या आरण्यगण है। सामवेदके ब्राह्मणभागमें आर्षेय, देवताध्याय, अद्भुत, ताण्ड्यमहाब्राह्मण, सामविधान आदि आठ ब्राह्मण हैं। इसमें दो उपनिषद् प्रधान हैं। छान्दोग्य और केनोपनिषद्।

चरणव्यूहमें अथर्ववेदकी मन्त्रसंख्याके विषयमें लिखा है कि:—

द्वादशानां सहस्राणि मन्त्राणां त्रिंशतानि च।

अथर्ववेदमें १२३०० मन्त्र हैं। परन्तु आज कल इससे बहुत थोड़े मन्त्र मिलते हैं। इसकी नौ शाखाएं, यथा-पैप्पल, दान्त, प्रदान्त, स्नात, सौल, ब्रह्मदावल, शौनक, देवीदर्शती और चरण-विद्या हैं। पहले इसकी बहुत शाखा थी, परन्तु आजकल केवल शौनक शाखा है। शौनक शाखा विंशति काण्डमें विभक्त है। अथर्ववेदमें शत्रुपीड़न, मारमरक्षा, विपद्दूरीकरण आदि कार्य्योंके लिये बहुत मन्त्र हैं। वर्त्तमान तन्त्रशास्त्रकी उत्पत्ति अथर्ववेदसे ही मालूम होती है। अथर्ववेदके ब्राह्मणका नाम गोपथ ब्राह्मण है। इसके ज्ञानकाण्डमें बहुत उपनिषद् हैं। अब भी जाबाल, कैवल्य, आनन्दवल्ली, आरुणीय, तेजोबिन्दु, ध्यानबिन्दु, अमृतबिन्दु, ब्रह्मबिन्दु, नादबिन्दु, प्रश्न, मुण्डक, अथर्वशिरस्, गर्भ, माण्डूक्य, नीलरुद्र आदि बहुत मिलते हैं।

अथर्ववेदके सङ्कलयिताओंके विषयमें तीन मत हैं। किसी किसीकी सम्मतिमें अथर्व और अङ्गिरा ऋषिके वंशधर लोग, और किसी किसीकी सम्मतिमें भृगुवंशियोंने इसका सङ्कलन किया था। कोई ऐसा भी कहते हैं कि, अथर्व ऋषिने यज्ञक्रियाकी प्रवर्त्तनाके समय अथर्ववेदका सङ्कलन किया था। ऋक्, साम, यजु, अथर्व, इन चारोंमें ही बहुतसे साधारण एक मिलते हैं। इससे मालूम होता है कि, पहले ही क्रमशः वेदचतुष्टयका विभाग किया गया था। जैसा कि सूतसंहितामें लिखा है:—

स पुनर्वेदवेदस्य प्रसादादम्बिकापतेः।
सङ्क्षिप्य सकलान् वेदांश्चतुर्धा कृतवान्द्विजाः॥
ऋग्वेदः प्रथमः प्रोक्तो यजुर्वेदस्ततः परः।
तृतीयः सामवेदाख्यश्चतुर्थोऽथर्व उच्यते॥

एकविंशतिभेदेन ऋग्वेदो भेदितोऽमुना।
यजुर्वेदो द्विजा एकशतभेदेन भेदितः॥
नवधा भेदितोऽथर्ववेदः साम सहस्रधा।
व्यस्तवेदतया व्यास इति लोके श्रुतो मुनिः॥

महर्षि वेदव्यासजीने वेददेव अग्निकापतिकी कृपासे निखिल वेदको चार भागमें विभक्त किया, जिसमें ऋग्वेद प्रथम, यजुः द्वितीय, साम तृतीय और चतुर्थ अथर्ववेद है। अतः पर उन्होंने ऋग्वेदको २१ भागमें, यजुर्वेदको १०१ भागमें, अथर्वको ९ भागमें और सामवेदको १००० भागमें विभक्त किया था। येही ११३१ भाग वेदकी शाखा हैं। वेदविभाग करनेसे ही उनका नाम वेदव्यास है। इस प्रकार चार भेद वेदके करनेका प्रयोजन भी है क्योंकि यज्ञार्थ अभिप्रवृत्त वेदोंमेंसे ऋग्वेदके द्वारा यज्ञीय होतृप्रयोग, यजुर्वेदके द्वारा यज्ञीय आध्वर्य्यवप्रयोग, सामवेदके द्वारा उद्गातृप्रयोग (जिसमें ब्रह्मयजमानप्रयोग भी अन्तर्भूत होता है) और अथर्ववेदमें शान्तिक, पौष्टिक, आभिचारिक आदि कर्म, कर्म्म, देवता तथा उपासनाका रहस्य और इनके प्रतिपादक मन्त्रोंके होनेसे एक वेदके चतुर्धा विभाग सर्व्वथा युक्तियुक्त हैं। इसके सिवाय शाखाओंके भेदमें मतभेद पाया जाता है, जैसा कि पातञ्जल महाभाष्य और सूत-संहिताके अनुसार वेदकी ११३१ शाखा, मुक्तिकोपनिषद्के अनुसार ११८० शाखा और स्कन्दपुराणके अनुसार ११३७ शाखा है। इस प्रकार मतभेदका वास्तिक कारण कुछ नहीं है, केवल किसी महर्षिने किसी शाखाको अन्य शाखामें अन्तर्भूत करके संख्याको घटादी है। और किसीने ऐसा अन्तर्भाव न करके संख्याको बराबर रक्खा है। अतः वेदकी शाखाओंकी संख्यामें इस प्रकार मतभेद होनेपर भी महर्षियोंके वाक्यमें कोई विरोध नहीं है, ऐसा समझना चाहिये। यही भवरोगवैद्य भगवती श्रुतिके विषयमें संक्षिप्त विवेचन है।

वेदाङ्ग।



वेदार्थ अति दुर्ज्ञेय है। जिस प्रकार समाधिस्थ पुरुष ही ब्रह्मदर्शनमें समर्थ हो सका है, उसी प्रकार समाधियुक्त अन्तःकरण द्वारा ही शब्दब्रह्मरूपी वेदका यथार्थ अर्थ समझा जासका है, परन्तु योगीकी पदवीको प्राप्त करनेवाले सौभाग्यवान् महापुरुष कम ही होते हैं। श्रीगीताजीमें लिखा है कि:—

> मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
> यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

हजारों मनुष्योंमें कोई ही योगी होनेका प्रयत्न करता है और अनेक यत्न करनेवालोंमें से कोई ही समाधिस्थ होकर भगवत्साक्षात्कार करसका है। वेदवाक्यही जब ज्ञान और विज्ञान पानेके एकमात्र लौकिक उपाय हैं, तो लौकिकरूपसे वेदको समझनेकी युक्ति ही सर्वसाधारणके लिये हितकारिणी हो सकी है। परन्तु वेद जब अलौकिक ज्ञानभण्डारके आधाररूप हैं, तो लौकिक पुरुषार्थ द्वारा अलौकिक वैदिक ज्ञानके प्राप्त करनेकी उपयोगिनी बुद्धिका लाभ करनेके अर्थ कुछ असाधारण यत्नकी ही आवश्यकता है। अर्थात् जिस प्रकार साधारण व्याकरण एवं काव्य कोष आदिके पाठ करनेसे ही पण्डितगण सब अन्यान्य संस्कृत-ग्रन्थोंके समझनेकी उपयुक्त बुद्धिको प्राप्त करलिया करते हैं, केवल वैसी ही साधारण योग्यता द्वारा वैदिक ज्ञानकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सक्ती। बिना षडङ्गोंमें पूर्ण योग्यता प्राप्त किये जिज्ञासुगण कदापि वेदार्थ समझनेमें समर्थ नहीं हो सक्ते। जिस प्रकार किसी पुरुषकी परीक्षा की जाती है तो पहले उसकी आकृति, चेष्टा, गुण, प्रकृति, चरित्र आदि अनेक बातोंके जाननेकी आवश्यकता होती है, और इन बातोंके

जाननेसे उस व्यक्तिका पूर्ण रीतिसे परिचय हो सकता है, अन्यथा नहीं। उसी नियमके अनुसार वेदपाठ द्वारा वैदिक तात्पर्योंके समझनेके अर्थ योग्य बुद्धिका सम्पादन तभी हो सकता है, जब षडङ्ग पूर्णरूपसे अभ्यस्त हो जायँ। वैदिक षडङ्गके नाम मुण्डकोपनिषद्‌में इस प्रकार हैं।

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। शास्त्रोंमें लिखा है कि :—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।

इस वेदपुरुषके छन्दःशास्त्र चरण, कल्पशास्त्र (कर्म्मकाण्ड ग्रन्थ) हस्त, ज्योतिषशास्त्र नयन, निरुक्तशास्त्र कर्ण, शिक्षाशास्त्र नासिका और व्याकरणशास्त्र मुखरूप हैं।

(शिक्षाशास्त्र)

शिक्षाशास्त्रमें वेदके पाठ करनेकी शैली विस्तृत रीतिसे वर्णित है। वैदिक ज्ञानप्राप्तिके अर्थ पाठ ही प्रथमस्थानीय है। इस कारण शिक्षाशास्त्रकी सर्व्वप्रथम आवश्यकता मानी गई है। शब्दके साथ शाब्दिक-भावका और वाचकके साथ वाच्यका तादात्म्य-सम्बन्ध है; इस विषयको दर्शनशास्त्रोंने भलीभांति सिद्ध कर दिखाया है। परन्तु शब्दकी शक्ति तब ही पूर्णरूपसे प्रकाशित हो सक्ती है जब शब्द अपने पूर्णरूपमें उच्चरित हो। फलतः अलौकिक शक्तिपूर्ण वेदके पदसमूह द्वारा तब ही पूर्णलाभ हो सक्ता है, कि जब वे अपनी वैज्ञानिक शक्तियुक्त यथावत् ध्वनिके साथ बोले जायँ। वेद शब्द-मय ब्रह्म हैं। अपिच शब्द-विज्ञानके यथावत् क्रमके अनुसार वेदपाठ तथा गान करनेकी शैली इस शास्त्रमें आविष्कृत की गई है।

शब्द, वर्णात्मक तथा ध्वन्यात्मक भेदसे दो भागोंमें विभक्त हैं, इसी कारण वेदपाठके केवल वर्णात्मक शिक्षा अंशका ह्रस्वादि भेदसे साधारण शिक्षाशास्त्रमें वर्णन किया गया है, एवं ध्वन्यात्मक प्रकरणका षड्ज आदि विभागके अनुसार गान्धर्व उपवेद आदिमें वर्णन किया गया है। स्वरब्रह्मके ह्रस्व आदि विभाग अथवा गानोपयोगी षड्ज आदि विभाग ही उनके पूर्णरूपका आविर्भाव किया करते हैं। स्वरके ह्रस्वादि तीन साधारण भेद और षड्ज आदि सात असाधारण भेद हैं। साधारण और असाधारण होनेके कारण उनके द्वारा साधारण एवं असाधारण शक्तिकी उत्पत्ति हुआ करती है। मन्त्रोंमें सङ्गीतका सम्बन्ध हो जानेसे सामवेदकी महिमा सर्व्वोपरि कही गई है। वेदकी साधारण शिक्षामें केवल ह्रस्वादि तीन स्वरभेदोंका वर्णन, पाठकी शैली और हस्तचालनादि बहिःक्रियाओंकी शैलीका वर्णन किया गया है और सामवेदसम्बन्धीय संगीत-शिक्षामें इन तीनों स्वरभेदोंसे और सात स्वरोंकी उत्पत्ति दिखाकर, उन्हींकी सहायतासे मूर्च्छना आदि और असाधारण सूक्ष्मशक्तिकी उत्पत्ति द्वारा, शब्दविज्ञानकी और ही कुछ विशेष अलौकिकता आविष्कृत की गई है। आज दिन जिस प्रकार संगीत शास्त्र केवल लौकिक आनन्दसम्बन्धीय शिल्प समझा जाता है, वास्तवमें पूज्यपाद महर्षिगण द्वारा आविष्कृत गान्धर्व उपवेद वैसा शास्त्र नहीं है। आर्य्यजातिकी संगीत विद्या एक वैज्ञानिक शास्त्र है और इसी अलौकिक विद्याकी सहायतासे वेदमन्त्रोंसे अलौकिक शक्तियोंकी उत्पत्ति हुआ करती है। पूज्यपाद नारद आदि महर्षियोंके शिक्षाग्रन्थ पाठ करनेसे विदित हो सकेगा कि, ह्रस्व आदि तीन स्वरोंके विस्तारसे सप्त स्वर, इक्कीस मूर्च्छना, और बाइस श्रुति, तदनन्तर इनके विस्तारसे अनेक राग रागिनियोंकी किस प्रकार सृष्टि हुई है। सङ्गीतरत्नाकरमें लिखा है कि:—

श्रुतिभ्यस्तु स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः।
पञ्चमो धैवतश्चाऽथ निषाद इति सप्त ते॥
तेषां संज्ञाः सरिगमपधनीत्यपरा मताः।
दीप्तायता च करुणा मृदुर्मध्येति जातयः॥
श्रुतीनां पञ्च तासाञ्च स्वरेष्वेवं व्यवस्थिताः।
ते मन्द्रमध्यतारारव्यस्थानभेदास्त्रिधा मताः॥
त एव विकृतावस्थाः द्वादश प्रतिपादिताः।

इन स्वरविभागोंके द्वारा मनुष्यके चित्तपर कैसा प्रभाव पड़ना सम्भव है? यह मनुष्य शरीर भी एक क्षुद्र ब्रह्माण्ड है, जो सृष्टि प्रकरणका नियम ब्रह्माण्डमें स्थित है, वही नियम इस शरीरमें भी पाया जाता है। इसी सृष्टिनियमके अनुसार शब्दसृष्टि त्रिगुण-भेदसे प्रथम स्थूल अवस्थामें ह्रस्व आदि तीन भेदोंसे युक्त होती है और द्वितीय सूक्ष्म अवस्थामें सृष्टिके स्वाभाविक सप्त भेदकी भाँति सप्त भेदयुक्त हुआ करती है। इन्हीं दोनों भेदोंके अनुसार शिक्षा-शास्त्रोंका प्रणयन किया गया है। पाणिनीय शिक्षामें लिखा है कि:—

आत्मा बुद्ध्यासमेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।

जिस समय इस शरीरमें स्वरसम्बन्धिनी सृष्टि होती है, तो उसी सृष्टिनियमके अनुसार प्रथम आत्माकी प्रेरणासे बुद्धि, मन, प्राण-शक्ति, और प्राणवायु क्रमशः प्रेरित होकर तदनन्तर शब्द आविर्भूत होते समय शरीरके विशेष विशेष स्थानोंका स्पर्श करते हुए शब्द-को प्रकाशित करते हैं। फलतः प्रत्येक स्वरके साथ आत्माका तादात्म्यसम्बन्ध रहा करता है। परन्तु वह आत्मशक्ति तब ही पूर्णरूपसे प्रकाशित हो सकती है कि, जब वह यथावत् शब्दके आश्रयसे ध्वनित होने पावे। जिस अध्यात्म-भावको जो अधिभूत

स्वर है, यह तब ही यथावत् प्रकाशित हो सकता है, जब बीचकी अधिदैवशक्ति कार्य्यकारिणी हो। अपि च यदि पूर्वकर्मके अनुसार कार्य्यकारिणी अधिदैवशक्ति सकल स्थानोंमें स्थायी न होसके और वायुको शब्दमें परिणत करनेके पूर्व ही निर्बल होजाय, तो जिस स्वरके द्वारा जिस प्रकारकी शक्ति प्रकट होनेकी सम्भावना थी, वह नहीं होसकेगी। इस कारण वेदमन्त्रके शब्दसमूहको अपने यथावत् शक्तियुक्त भावमें स्थिर रखनेके अर्थ इस शिक्षाशास्त्रका प्रणयन किया गया है। प्रत्येक वेदकी प्रत्येक शाखाके उच्चारणके निमित्त इस प्रकार शिक्षाग्रन्थ थे, जिनको "प्रतिशाख्य" भी कहा जाता था। इस समय साधारण शिक्षाके बहुत थोड़े ग्रन्थ मिलते हैं, और सामशिक्षा, जिसका विस्तार अधिक था, उसके ग्रन्थ प्रायः लुप्त हो गये हैं। सामशिक्षाके लोप हो जानेसे आर्य्यजातिकी बड़ी भारी क्षति हुई है। सामगानकी यथार्थ शैली अनुसन्धान द्वारा आविष्कार करनेकी बड़ी आवश्यकता है।

(कल्पशास्त्र)

कल्पशास्त्र मन्त्रसम्बन्धीय क्रियासिद्धांशका वर्णन करने वाला है। जिस प्रकार विना यथावत् ध्वनिके सहित प्रकाशित हुए शब्दब्रह्मरूपी वेदमन्त्र पूर्ण फलप्रद नहीं हुआ करते, उसी नियमके अनुसार वैदिक क्रियासिद्धांशमें जबतक प्रत्येक क्रियाके वैदिक-कर्म-विज्ञानानुकूल साधनयुक्तिका अवलम्बन न किया जायगा, तबतक वे क्रियासिद्धांश कदापि पूर्ण फलदायी नहीं हो सकेंगे। इस वेदाङ्गमें अग्निहोत्र आदि नाना याग, उपनयन आदि नाना संस्कार और ब्रह्मचर्य्य, गार्हस्थ्य आदि आश्रमसम्बन्धीय नाना कर्म्मोंकी बहिरङ्ग साधनविधिका पूर्णरूपसे वर्णन किया गया है। यह संसार कर्म्ममय है, इस लिये वेदोंमें कर्म्मका अधिकार सबसे अधिक होनेके कारण कल्पशास्त्र भी बहुत विस्तृत है। जितनी

शाखाओंमें वेद विभक्त हैं, उतने ही स्वतन्त्र स्वतन्त्र कल्पशास्त्र हैं। ये शास्त्र सूत्रबद्ध होनेके कारण कल्पसूत्र नामसे प्रसिद्ध हैं। संसारमें भी दृष्टिगोचर होता है कि, मुखसे जिस भावके शब्द प्रकाशित किये जायँ, उसी भावसे युक्त बहिर्जगत् प्रकाशित करनेसे शब्दोंकी शक्ति कुछ अधिक बढ़ जाती है, फलतः अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्, स्वरूपब्रह्म और शब्दब्रह्म, कारणब्रह्म और कार्य्यब्रह्म, इनका तादात्म्य सम्बन्ध रहनेके कारण वैज्ञानिक युक्तिसे निर्णीत कर्मकाण्डके प्रक्रियासमूह वेदोक्त अध्यात्मलक्ष्यके साधनार्थ, परम आवश्यकीय है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। वेदकी ११३१ शाखाओंमेंसे जिसकी जो शाखा हो, वह स्वशाखाके अनुसार अपने अपने कल्पसूत्रोंकी सहायतासे अपने विहित कर्मोको नियमबद्ध करके अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करें, यही कल्पशास्त्रका तात्पर्य्य है। इस समय जिस प्रकार वेदके संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक भागोंका शतांश भी नहीं रह गया है, उसी प्रकार अति विस्तृत कल्पसूत्रका शतांश भी नहीं रह गया है।

आजकल क्रियाकाण्डमें जितने कल्पसूत्रोंका व्यवहार होता है, वे प्रधानतः तीन भागोंमें विभक्त हैं, यथा—श्रौतसूत्र, धर्म्मसूत्र, और गृह्यसूत्र। श्रौतसूत्रमें यागयज्ञादिकी विधि बताई गई है। सामाजिक जीवन यापन करनेके लिये जितने प्रकारके नियम पालन करने होते हैं, उन सबोंकी व्यवस्था धर्म्मसूत्रोंमें की गई है। गृह्यसूत्रमें गृहधर्म्मकी विधि वर्णित है, अर्थात् जन्मसे मृत्युपर्य्यन्त पिता, माता, पुत्र, पति, पत्नी आदि गृहस्थ वर्गका परस्परके प्रति क्या क्या कर्त्तव्य है, इसका वर्णन उसमें है। अब भी गृह्यसूत्रके अनुसार जातकर्म, विवाह आदि नित्य-नैमित्तिक कर्म किये जाते हैं। उल्लिखित तीन श्रेणीके सूत्रोंकी पुनः अनेक शाखा हैं। श्रौतसूत्रकी शाखाओंमेंसे आश्वलायन, शाङ्ख्यायन, मशक, लाट्यायन, द्राह्या-

यन, बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशीन तथा कात्यायन; धर्मसूत्रकी शाखाओंमेंसे वासिष्ठ, गौतम, बौधायन तथा आपस्तम्ब और गृह्यसूत्रकी शाखाओंमेंसे साङ्ख्यायन, आश्वलायन, पारस्कर तथा गोभिल आदि उल्लेख योग्य हैं। श्रौतसूत्रकी आश्वलायन तथा साङ्ख्यायन शाखा ऋग्वेदके अन्तर्गत हैं। मशक, लाट्यायन तथा द्राह्यायन शाखा सामवेदके अन्तर्गत हैं। बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब तथा हिरण्यकेशीन कृष्णयजुर्वेदके अन्तर्गत हैं और कात्यायन शाखा शुक्ल-यजुर्वेदके अन्तर्गत है। मशक श्रौतसूत्रमें भिन्न भिन्न यज्ञोंके मन्त्रसमूह लिखे हैं। बौधायनादि श्रौतसूत्रोंमें कृष्ण-यजुर्वेदान्तर्गत यज्ञप्रणालीका वर्णन किया गया है। धर्मसूत्रोंमें मानवधर्मसूत्र ही प्रधान थे। प्राचीनकालमें इसकी बड़ी कदर थी। अब यह नहीं मिलता है। परन्तु वासिष्ठ तथा गौतम धर्मसूत्रोंमें उसके जो अनेक अंश उद्धृत किये गये थे, वे सब अब भी प्रचलित हैं। मनु याज्ञवल्क्य आदिके संहितासमूह उन सब धर्मसूत्रोंमेंसे ही उत्पन्न हुए थे। विवाह, उपनयन, श्राद्ध आदिके समय जो यज्ञकर्म होते हैं, वे सब गृह्यसूत्रके अनुसार ही किये जाते हैं। श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र तथा गृह्यसूत्र तीनों मिलकर कल्पसूत्र कहलाते हैं। आपस्तम्बका कल्पसूत्र अब भी मिलता है। उसके पहले २४ भागोंमें श्रौत या यागयज्ञोंका विषय, २६ तथा २७ वें भागमें गृह्यसूत्रका विषय और २८ तथा २९ वें भागमें धर्मसूत्रका विषय सन्निविष्ट है। उसके ३० वें या सुलभसूत्रमें यज्ञवेदी बनानेकी विधि बताई गई है। जिससे प्राचीन आर्योंमें ज्यामिति विद्याकी भी निपुणता प्रमाणित होती है।

(व्याकरणशास्त्र)

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः क्रम हैं, सो विद्यार्थियोंके शिक्षा पानेके अनुसार श्रेणीबद्ध किये गये हैं,

परन्तु वास्तवमें शिक्षाके साथ छन्दका, व्याकरणके साथ निरुक्तका और कल्पके साथ ज्योतिषका घनिष्ठ सम्बन्ध है और इन छःहों अंगोंमें क्रियासिद्धांशके विचारसे शिक्षा और औपपत्तिक अंशके विचारसे व्याकरण प्रथम आवश्यकीय अंग है। ये सब अंग वैज्ञानिकविचारसे पूर्ण हैं। व्याकरणशास्त्र शब्दानुशासनका द्वाररूप है। जिस प्रकार अन्तर्जगत्सम्बन्धीय राज्यमें प्रवेश करनेके लिये योगशास्त्र द्वारभूत है, और उसका भगवान् पतञ्जलीजीने "अथ योगानुशासनम्" कहकर प्रारम्भ किया है, उसी प्रकार शब्दब्रह्मरूपी स्थूल राज्यमें यावत् पदार्थोंका ग्रहण करनेके लिये व्याकरण वेदका द्वाररूप है और इस शास्त्रका भी भगवान् पतञ्जलीजीने "अथ शब्दानुशासनम्" कहकर प्रारम्भ किया है। जिस प्रकार शब्दमय सृष्टिके होते समय भावसे वृत्ति और वृत्तिसे शब्दकी उत्पत्ति होती है, एवं अन्तर्जगत्से बहिर्जगत्में शब्दोंका आविर्भाव होते समय शब्दोत्पत्तिकारिणी शक्तिके चार भेद किये गये हैं; यथा-परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, उसी प्रकार शाब्दिक सृष्टिका लय होते समय अर्थात् शब्द जब अन्तर्राज्यमें प्रवेश करता है, तब शब्दसे अर्थ और अर्थसे भावकी उत्पत्ति होती है। संस्कृत भाषा अपने नामानुसार संस्कृत और अपने सब अङ्गोंमें पूर्ण होनेसे सर्व्वथा नियमबद्ध है, इस कारण संस्कृतभाषाके लिये व्याकरणकी सर्व्वोपरि आवश्यकता है। व्याकरणके द्वारा जब शब्द शुद्ध लिखे और पढ़े जायँगे, तभी उनसे ठीक अर्थका बोध होनेसे दुर्ज्ञेय भावोंको समझनेमें सहायता प्राप्त होगी। व्याकरणशास्त्रकी एक विशेष महिमा यह भी है कि, ज्योतिषके सदृश यह शास्त्र मनुष्योंको वैदिक और लौकिक दोनों कार्य्योंमें पूर्ण रीतिसे सहायता प्रदान करता है। इस शास्त्रके अनेक बड़े बड़े ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं, तो भी कुछ आर्षग्रन्थ अब भी उपलब्ध होते हैं।

(निरुक्तशास्त्र)

व्याकरणशास्त्र द्वारा प्रथम शब्दार्थका बोध होता है और तदनन्तर निरुक्तशास्त्रोक्त विज्ञान द्वारा वेदका भावार्थ समझनेमें सहायता प्राप्त हुआ करती है। निरुक्तशास्त्रका भी निघण्टुनामसे एक अन्तर्विभाग है। निघण्टु द्वारा केवल वैदिक शब्दज्ञानमें सहायता प्राप्त होती है। इस शास्त्रको वेदका कोष भी कह सकते हैं। वैदिक दर्शन-विचारके अनुसार वेदमें कई प्रकारकी भाषाएँ हैं और सृष्टिके विविध परिणामके अनुसार वेदमें आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक, इन त्रिविध भावोंका भी वर्णन पाया जाता है। इन सबका विस्तृत ज्ञान निरुक्तशास्त्रके भलीभाँति जाननेसे प्राप्त हुआ करता है। निरुक्तविज्ञानका सार यह है कि, जिस प्रकार व्याकरणशास्त्र शब्दको नित्य मानता है, उसी प्रकार निरुक्तशास्त्र भावको नित्य मानता है। जिस प्रकार व्याकरण-विज्ञान द्वारा ओंकाररूपसे वेदकी नित्यता विज्ञानसिद्ध है, उसी प्रकार निरुक्तके और भी उच्च विज्ञान द्वारा भावमय अध्यात्मस्वरूपकी नित्यताकी सिद्धि द्वारा ज्ञानमय वेदकी नित्यता प्रमाणित होती है। स्थूल बहिर्जगत्से लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्यात्मपद पर्य्यन्त सब ही भावमय है। सृष्टिकी आदि, मध्य और अन्त इन तीनों अवस्थाओंमें एकमात्र भावमय चेतनसत्ता ही समानरूपसे स्थित रहा करती है, इस कारण भावसे ही जगत्की उत्पत्ति सर्वथा स्वीकार्य्य है। फलतः भाव प्रधान होनेके कारण शब्दके अवलम्बनसे भावराज्यकी यथार्थ भूमिमें पहुंचा देना ही इस शास्त्रका पुरुषार्थ है। प्राचीनकालमें निरुक्तशास्त्रका बहुत ही विस्तार था। पूज्यपाद महर्षिगण इस शास्त्रके अगणित बड़े बड़े ग्रन्थ रच गये हैं, परन्तु नाना कारणों से अब उन ग्रन्थोंके नामोंतकका संग्रह करना कठिन होगया है। चतुर्विंशतिमत नामक मसाधारण पुस्तकका जितना अंश स्थान-स्थान-

पर पाया जाता है, उसके पाठ करनेसे ही निरुक्तशास्त्रकी अ
विकता और उसके असाधारण विस्तारके विषयमें कुछ अनु
किया जा सकता है। आजकल निरुक्तका एक छोटासा
यास्कमुनिका जो षडङ्ग निरुक्तके नामसे देखनेमें आता है,
प्राचीन निरुक्तके कङ्कालकी छायामात्र है। वेदोंमें लाघव, गौ
विचार (इशारोंके शब्दोंसे बहुत कुछ भाव समझ लेना
होनेके कारण विना निरुक्तशास्त्रकी पूर्ण सहायताके भाव
होना असम्भव है। पूज्यपाद महर्षिगणकथित दर्शनशास्त्र
लाघव-गौरवकी अधिकता किस प्रकार है, सो विद्वान् लोग
ही अनुमान करसके हैं जिन्होंने कभी विना भाष्योंकी सहायत
दार्शनिक सूत्रोंके समझनेके लिये यत्न किया होगा। वेद या
दार्शनिक तत्त्वों तथा विज्ञानोंकी खानि हैं, इस कारण उनमें
लाघव-गौरव विचार पराकाष्ठाका ही होगा, इसमें सन्देह ही
है? श्रुतियोंका यह लाघव-गौरवविचार कई कोटियोंमें विभक्त
प्रथम तो त्रिभावात्मक, जिसका हम वर्णन पहले करचुके
और पुनः सप्तविज्ञानात्मक, जिसका वर्णन सप्तदर्शनोंमें संक्षेप
किया जायगा।

ये त्रिविधभाव ही क्रमशः जीवके त्रिविध सुख और त्रिवि
दुःखके अनुभवके हेतु हुआ करते हैं और यह सप्तविज्ञानमय
दार्शनिक भूमि ही साधकको मुक्तिपद प्राप्त करनेके अर्थ स
नियमबद्ध सोपान हैं। तदतिरिक्त त्रिगुणभेदसे सत्त्व, रज अ
तमोगुणके अनुसार उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ अधिकारके रहस्
का भेद श्रुतियोंमें रहना अवश्यम्भावी है, क्योंकि वे भेद
त्रिगुणात्मक विश्वके अन्तर्गत शब्दब्रह्म ही है और कर्म्म, उपास
और ज्ञान इन तीनों काण्डोंमें ही अन्तर्याग और बहिर्यागरूपसे
प्रकारके यजन होना भी सर्वमान्य है।

फलतः वेदके लाघव-गौरवविचारके विषयमें भावुकगण भावों-का जितना अधिक अनुसन्धान कर सकेंगे, उतनी ही वेदके अनन्तभावोंकी अलौकिकताकी छटा दृष्टिगोचर होगी। इस वैदिक अनन्तभावराज्यका प्रकाश करानेमें निरुक्तशास्त्र प्रधान अवलम्बनीय है।

(छन्दःशास्त्र)

छन्दःशास्त्र कुछ विलक्षण ही है, जिस प्रकार शिक्षाशास्त्र स्वरकी सहायतासे वैदिक कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्डमें सहायता किया करता है, उसी प्रकार यह छन्दःशास्त्र भी छन्दोविज्ञानकी सहायतासे अलौकिक शक्तियोंका आविष्कार करके वैदिक ज्ञानके विस्तार करनेमें और कर्ममें सफलता प्राप्त करानेमें बहुत ही उपकारी है। सिद्ध और साधकरूपसे जिस प्रकार ध्वनिके साथ अक्षरका सम्बन्ध होता है, उसी नियमके अनुसार शिक्षाशास्त्रका सम्बन्ध छन्दःशास्त्रसे समझना चाहिये। यदि च स्वरसंयुक्त ध्वनि धन्यात्मक और वर्णात्मक दोनों भावोंसे ही संयुक्त रहा करती है, परन्तु अन्तर्विभागरूपसे सार्थक ध्वनिमें छन्दकी स्थिति सदा रहती है। मुखसे जो कुछ शब्द उच्चारित हो वह जिस प्रकार अवश्य स्वरमय होगा, उसी रीतिपर वह अवश्य ही छन्दोमय भी होगा। फलतः स्वरके स्वतन्त्र स्वतन्त्र विभागोंके विचार द्वारा जिस प्रकार स्वतन्त्र स्वतन्त्र शक्तियाँ मनुष्यके अन्तःकरणमें प्रकट होती हैं, उसी प्रकार स्वतन्त्र स्वतन्त्र छन्दोमय विशेष विशेष प्रतिक्रिया-की विशेष विशेष शक्ति द्वारा कुछ और ही विशेष शक्तियोंका प्रादु-र्भाव जीवके अन्तःकरणमें हुआ करता है। फलतः छन्दःसमूह भी विशेष शक्तियुक्त होनेके कारण छन्दोज्ञानके प्रकाश करनेके अर्थ पूज्यपाद महर्षियोंने इस छन्दःशास्त्रका प्रणयन किया है। जिस प्रकार शिक्षा शास्त्र द्वारा हस्वादि अथवा षड्जादि स्वर, श्रुति,

मूर्च्छना और रागरागिनी समूह स्वतन्त्र स्वतन्त्ररूपसे अपनी अपनी प्रकृतिशक्तिके अनुसार शान्त, करुण आदि रसोंका आविर्भाव किया करते हैं, उसी नियमके अनुसार स्वतन्त्र स्वतन्त्र छन्दःसमूह भी अपनी अपनी स्वतन्त्र स्वतन्त्र प्राकृतिक शक्तिके अनुसार स्वतन्त्र स्वतन्त्र भावोंका उदय करके वैदिकक्रियाके कुछ विलक्षण कार्यमें ही तत्पर रहा करते हैं, इसी कारण स्वतन्त्र स्वतन्त्र छन्द स्वतन्त्र स्वतन्त्र कार्यमें काम आया करते हैं।

वैदिक सात छन्द, जो दार्शनिक सप्त प्राकृतिक परिणामके मूलभूत हैं, उनपर विचार करनेसे वैदिक छन्दोंकी वैज्ञानिक भित्तिका कुछ प्रमाण मिल सकेगा। चाहे साधकका लक्ष्य स्वर्ग अथवा लौकिक भोगवासनार्थ हो अथवा मोक्षसिद्धि हो, परन्तु छन्दोविज्ञानमय वैदिक मन्त्र-समूह यदि छन्दोविज्ञानके अनुसार काममें लाये जांय, तो सफलता प्राप्त करनेमें सुविधा रहेगी, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। वैदिक अनुष्ठानादिमें छन्दोंका अधिक विचार रहनेके कारण छन्दोंकी यह और भी विलक्षणता पाई जाती है कि, अदृष्टफलोत्पादक वेद-मन्त्रकी शक्तिको छन्दोविज्ञान भी पूर्ण रूपसे सहायता किया करता है। प्रकृतिका विस्तार अनन्त है, इस कारण छन्द भी अनन्त हैं तथा छन्दःशास्त्रके वक्ता महर्षियोंने जीवोंके कल्याणार्थ प्रधान प्रधान छन्दोंको नियमबद्ध करके छन्दःशास्त्रोंमें प्रकट किया है। वैदिक छन्दःशास्त्रके ग्रन्थ प्रायः लुप्त हो गये हैं। इस शास्त्रका थोड़ा ही अंश अब पाया जाता है। इसका बीज संहितामें, अङ्कुरोद्गम आरण्यकमें और शाखा प्रशाखा उपनिषदोंमें है, ऐसा कह सकते हैं। छन्दके ज्ञानके बिना यज्ञकर्म या वेदाध्ययन असम्पूर्ण रह जाता है। वेदमें ७ छन्दका उल्लेख देखनेमें आता है; यथा—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुभ्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुभ् तथा जगती। प्रात्याहिक संध्यामें

इन सबोंके वर्णन मिलते हैं। २४ अक्षर और तीन चरणमें निबद्ध छन्द गायत्री है। उष्णिक् छन्दमें २८ अक्षर, अनुष्टुभमें ३२, बृहतीमें ३६, पंक्तिमें ४०, त्रिष्टुभमें ४४ और जगतीमें ४८ अक्षर हैं। महर्षि कात्यायनने अपने सर्वानुक्रमणिका ग्रंथमें इन सात छन्दोंका उल्लेख किया है। परवर्तीकालमें और जितने छन्द प्रचलित हुए हैं, वे सब लौकिक छन्द हैं। संस्कृत साहित्यमें २०० से अधिक छन्द प्रचलित हैं, उनमेंसे ५० छन्द साधारणतः व्यवहारमें आते हैं। वृत्त और मात्रावृत्त ये दो भेद लौकिक छन्दके हैं। गुरु लघु तथा स्वर-संख्याके नियमानुसार वृत्त और केवल मात्राके नियमानुसार मात्रावृत्त छन्दकी रचना हुई है। लौकिक छन्दके जितने ग्रन्थ आजकल प्रचलित हैं, उनमेंसे पिङ्गलाचार्यकृत छन्दोग्रंथ और छन्दोमञ्जरी प्राचीन तथा प्रसिद्ध हैं। लौकिक छन्दके अनेक भेद और काव्यशास्त्रमें उनकी अनन्त माधुरी होनेपर भी आप्त प्रमाणके विचारसे वैदिकछन्दमें ही आध्यात्मिक शक्तिका रहना निश्चित है। ऋग्वेदकी प्रतिशाख्यके शेष अंशमें वैदिक छन्दके विषयमें कई एक अध्याय हैं। सामवेदान्तर्गत निदानसूत्रमें भी छन्दकी आलोचना की गई है। कई एक ब्राह्मणमें भी छन्दरहस्यका वर्णन पाया जाता है।

(ज्योतिषशास्त्र)

समष्टि और व्यष्टिरूपसे ब्रह्माण्डरूपी यह संसार और पिण्डरूपी प्रत्येक मनुष्यका देह एकत्व सम्बन्धयुक्त हैं, इसी कारण आर्यशास्त्रमें वर्णित है कि, जो कुछ बाहिर ब्रह्माण्डमें है उन्हीं देवता, भूतसमूह और ग्रह नक्षत्र आदिका केन्द्र सब इस देहमें स्थित है, शिवसंहितामें लिखा है कि :—

देहेऽस्मिन्वर्त्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः॥

ऋषयो मुनयः सर्व्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
गुरुवर्त्तीनि पीठानि वर्त्तन्ते पीठदेवताः॥ इत्यादि।

ऐसा सिद्धान्त पश्चिमी विद्वानोंने भी किया है। फलतः मनुष्य अनन्त आकाशव्यापी सौरजगत्की एक क्षुद्र प्रतिकृति (नमूना) है। सौर जगत्के साथ इस प्रकार एकत्वसम्बन्ध रहनेके कारण और जगत्के अनुसार उसमें परिवर्त्तन होना युक्तियुक्त है। जिस प्रकार प्राकृतिक अन्तर्राज्यकी सूक्ष्मशक्ति चेतन और जड़रूपसे दो भागोंमें विभक्त है, उसी प्रकार प्रकृतिकी बहिःशक्ति भी सम और विषमरूपसे दो भागोंमें विभक्त है। इसी दो प्रकारकी सम और विषम ताड़ित् शक्ति द्वारा दो प्रकारके स्वतन्त्र कार्य हुआ करते हैं अर्थात् एक शक्ति द्वारा आकर्षण (Attraction) और दूसरी शक्ति द्वारा विकर्षण (Repulsion) की चेष्टा हुआ करती है। अपने इस विज्ञानका यह रहस्य है कि, जिस प्रकार अन्तःकरणमें ये दोनों शक्ति और इनके आकर्षण विकर्षण एवं इनकी सहायतासे मानसिक प्रवृत्तिमें परिवर्त्तन तथा मनुष्योंकी आन्तरिक वृत्तिमें परिवर्त्तन उत्पन्न हुआ करता है, उसी नियमके अनुसार समष्टि ब्रह्माण्डकी शक्तियोंके द्वारा भी इस वहिर्जगत्‌में सृष्टिस्थितिलयात्मक नानाप्रकारका परिवर्त्तन हुआ करता है। अपिच मनुष्यके अन्तःकरणमें जिस प्रकारसे ये शक्तियाँ विद्यमान हैं, उसी प्रकारसे ग्रह सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र आदिमें भी विद्यमान हैं एवं उनकी इस प्रकारकी शक्तियोंका प्रभाव जैसे उनके ऊपर रहा करता है, उसी प्रकार जहाँतक उनकी शक्ति पहुँच सकती है, वहाँतकके अन्यान्य ग्रह नक्षत्र तथा ग्रहनक्षत्रवासी जीवसमूहपर भी यथाक्रम पड़ा करता है। इस वैज्ञानिक सिद्धान्तके अनुसार प्रत्यक्षसिद्ध गणितज्योतिषका तात्पर्य्य सम्बन्ध अप्रत्यक्षसिद्ध फलित ज्योतिषके साथ रहना युक्ति और विज्ञानसे सिद्ध है। सूर्य्यसिद्धान्तमें कहा है कि:—

गणितं फलितञ्चैव ज्योतिषन्तु द्विधा मतम् ।

गणित और फलितरूपसे ज्योतिष दो प्रकारका है। प्राचीन-कालमें इस अलौकिक विज्ञानकी चरम उन्नति भारतवर्षमें हुई थी, एवं पूज्यपाद महर्षियोंमेंसे अनेक ही इस दिव्यशास्त्रके आचार्य्यों-की श्रेणीमें देख पड़ते हैं, उनमेंसे बहुतेरोंकी ज्योतिषसंहिताएँ अब तक भी पाई जाती हैं।

यह शास्त्र अन्यान्य वेदांगोंकी अपेक्षा अति विस्तृत और परम आवश्यकीय है, सो पूज्यपाद महर्षिगण भी षडङ्ग वर्णन करते समय षडङ्ग ज्योतिषमें आज्ञा कर गये हैं कि:—

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा ।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्द्धनि स्थितम् ॥
वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः,
कालानुपूर्व्या विहिताश्च यज्ञाः ।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं,
यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञान् ॥

जैसे मयूरोंकी शिखा और सर्पोंकी मणि उनके सिरपर रहती है, उसी प्रकार वेदाङ्गशास्त्रोंमें ज्योतिष सब अङ्गोंमें मुख्य है। वेद यज्ञोंके लिये प्रवृत्त हैं और यज्ञ कालके अनुसार किये जाते हैं, ज्योतिष काल-निर्णय करने वाला शास्त्र है, इसको जो जानता है वही यज्ञोंको जानकर कर सकता है।

यदि च सृष्टिके मूलकारणरूपी कारण ब्रह्म विश्वकर्ता सृष्टिसे अतीत हैं, परन्तु कार्य्य ब्रह्मरूपी यह प्राकृतिक ब्रह्माण्ड देश कालसे परिच्छिन्न है। अपि च कर्मके साथ कालका साक्षात् सम्बन्ध रहनेके कारण कर्मको कालकी अधीनता माननी पड़ती है। फलतः काल-ज्ञानके साथ जो कर्म किया जाता है, उसका ही पूर्णरूपसे सुसिद्ध होना सम्भव है। ज्योतिष कालके स्वरूपका प्रतिपादक है

और उत्तराङ्ग फलितज्योतिष कालके अन्तर्गत रहस्योंका प्रकाशक है, इस कारण वेदोंके कर्मकाण्डका ज्योतिषशास्त्रके साथ अति घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है; क्योंकि कर्म जब कालके अधीन हैं, तो कर्मकाण्ड भी ज्योतिषशास्त्रके अधीन रह कर करना हितकारी होगा। आज दिन इस ज्योतिषशास्त्रकी घोर अवनति भी आर्य्य-जातिके सदाचार और कर्मकाण्डकी हानिका प्रधान कारण है।
गणितज्योतिष द्वारा बहिर्जगत्सम्बन्धीय ग्रहनक्षत्रसमूहके परिवर्त्तन और कालके विभागका निर्णय किया जाता है और फलितज्योतिष द्वारा ग्रहनक्षत्र आदिकी गतियोंकी सहायतासे इस जगत्के एवं इस जगत्सम्बन्धीय यावत् सृष्टिके और मनुष्योंके आन्तरिक परिवर्त्तनोंका निर्णय हुआ करता है। ज्योतिषशास्त्रके ये दोनों ही अङ्ग मानवगणके लिये बहुत ही उपकारी हैं। ज्योतिषग्रन्थोंमें इस शास्त्रकी सर्वोपरि आवश्यकता, सर्व्वजीवहितकारिता और सर्व्वशास्त्रोंमें प्रधानता वर्णित है, सो विचारशील मनुष्योंके निकट कुछ अत्युक्ति नहीं प्रतीत होगी। प्रथम तो ज्योतिषशास्त्रके अनेक प्रधान प्रधान आर्षग्रन्थ लुप्त हो गये हैं। यद्यपि अन्य वेदाङ्गोंसे इस वेदाङ्गके ग्रन्थ अब भी अधिक उपलब्ध होते हैं, परन्तु प्रधान प्रधान सिद्धान्तग्रन्थोंमें बहुतसे लुप्त हो गये हैं। द्वितीयतः इस शास्त्रका संस्कार बहुत दिनोंसे नहीं हुआ है। इस शास्त्रका अधिक सम्बन्ध आधिभौतिक सृष्टिके साथ रहनेके कारण प्रकृतिकी स्वाभाविक त्रिगुणात्मक चेष्टाके अनुसार ग्रह आदिककी गतिमें भी क्रमशः परिवर्त्तन होना स्वतःसिद्ध है। प्रत्येक शताब्दीमें ग्रहनक्षत्रोंकी चालमें फेर पड़ जाया करता है, उस त्रुटिको दूर करनेके दो उपाय हैं, प्रथम योगदृष्टि द्वारा जिसका वर्णन योगदर्शनके तृतीयपादमें है और दूसरा उपाय यह है कि लौकिक, बुद्धि द्वारा यन्त्रालय निर्माणपूर्वक दृग्गणितकी सहायतासे संस्कार किया जाय। योग सहायताकी

शैली इस समय लुप्तप्राय हो गई है। ज्योतिषशास्त्रका आविर्भाव आदिकालमें आर्य्यजातिमें ही हुआ था, इसमें सन्देह ही क्या है? क्योंकि यह वेदाङ्ग है और परम्परारूपसे इस शास्त्रका ज्ञान भारतवर्षसे ही अन्यत्र विस्तृत हुआ है, एवं अब उन्नतिशील पाश्चात्य जातियोंने इसमें विशेष उन्नतिकी है। इस समय ज्योतिष यन्त्रालय निर्म्माणके विषयमें और दृग्गणितकी सहायतासे गणित ज्योतिषके संस्कारके विषयमें पाश्चात्य जातियोंने बहुत कुछ उन्नतिकी है। उनकी गणना प्रत्यक्ष फलप्रद भी होने लगा है। आर्य्यजातिमें अनेकानेक विप्लव और दुर्भाग्यके कारण कई शताब्दियोंसे गणितज्योतिषकी सारणीका संस्कार नहीं हुआ है, इस कारण भारतवर्षमें ज्योतिष यन्त्रालयके निर्माण द्वारा अपने प्राचीन ग्रंथोंका और पाश्चात्य जाति की नवीन दृग्गणितकी प्रणालीकी सहायतासे इस शास्त्रके अभ्युदयमें यत्न करनेसे अवश्य सफलता प्राप्त होगी।

ज्योतिर्विद्याके तत्त्वज्ञानसे अनभिज्ञ होनेसे आजकल फलित ज्योतिष की सत्यताके विषयमें बहुत सन्देह हो रहा है। जब कर्मके द्वारा ही जीवको सुख दुःख प्राप्ति होती है तो जड़ ग्रहोंका सम्बन्ध बीचमें मानकर अकारण बेचारे ग्रहदेवोंको सुख दुःखके झगड़ेमें क्यों फँसाया जाय, ऐसा कहना सर्वथा अनुचित है, इत्यादि अनेक प्रकारकी शङ्काएँ हो रही हैं। अतः यह विचारणीय विषय है। ग्रह जड़ हैं या चेतन हैं इसके विचारकी इस समय आवश्यकता नहीं। तथापि हिन्दूजातिके सात्त्विक विद्वानोंके कथनानुसार सबको अवश्य स्वीकार करना होगा कि जड़ वस्तु जब निष्क्रिय है तो फिर जो जड़पदार्थ संसारमें काम करते दिखाई देते हैं उनमें कोई चेतनसत्ता अवश्य होगी जिसके द्वारा ही उनसे नियमित कार्य्य होता रहता है। प्रकृति जड़ है, परन्तु प्रकृतिमें केवल चेतनसत्ताके रहनेसे ही प्रकृति नियमबद्ध कार्य्य करनेमें समर्थ हो रही है। अथवा "[illegible]"

से कार्य्य होना और सृष्टि स्थिति [illegible] का प्रवाहिक क्रम नहीं रहता, क्योंकि [illegible] और कार्य्यशृङ्खला चेतनसत्ताकी स्थिति ही सूचित करती है। अतएव यदि परमात्मा न होते तो सृष्टि-परायण [illegible] सृष्टि ही करती रहती, कभी प्रलय नहीं होता और कभी [illegible] बराबर प्रलय ही रह जाता, उसका [illegible] नहीं हो सकता, क्योंकि जड़शक्ति न बल अन्ध-बल है, [illegible] नहीं हो सकता है। रेलके इञ्जिनमें गाड़ी [illegible] केवल कलों चलानेवाला न हो तो इञ्जिन खींच [illegible] नहीं [illegible] ऐसा ही सर्वत्र समझना चाहिये [illegible] देवीमहिमाकी प्रतिष्ठा [illegible] जड़पदार्थ हैं उनको चालक अलग [illegible] यही हैं [illegible] देवता कहा जाता है। उन्हीं [illegible] द्वारा जड़पदार्थोंमें ठीक ठीक [illegible] हैं, अन्यथा प्रकृतिके किसी कार्य्यमें भी [illegible] यह [illegible] शक्ति ही भगवच्छक्ति है क्योंकि [illegible] और कोई शक्ति नहीं [illegible] मनुष्योंमें मानवीय [illegible], [illegible] तथा महर्षियोंमें देवतारूप-से या [illegible] और आधिभौतिक प्रकृतिमें [illegible] है, जिससे समस्त विश्व की रक्षा और [illegible] हुआ [illegible] भीतर जिस [illegible] सर्वत्र ठीक [illegible] है। वायुमें जिस [illegible] वायु द्वारा जीवोंकी प्राणरक्षा [illegible] करते हैं [illegible] पृथ्वीमें जिस [illegible] शस्यश्यामला

होकर अखिल जागतिक जीवोंकी रक्षा करती है इसे पृथ्वी माता कहते हैं। इसी प्रकार और ग्रहोंमें भी समझना चाहिये, अर्थात् तत्तद्ग्रहोंमें चेतनसत्ताके रहनेसे ही तत्तल्लोकके जीवोंकी रक्षा हो सकती है, अन्यथा नहीं। यही आस्तिक हिन्दुओंका सिद्धान्त है। इसको पाश्चात्य विद्वान् अभी तक मान नहीं सके हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि स्थूलपदार्थोंमें बद्ध है, योगदृष्टि या सूक्ष्मदृष्टि उनमें नहीं है। अब हम ग्रह उपग्रहके साथ जीवका क्या सम्बन्ध है सो बतलाया जाता है।

भौतिक जगत् या स्थूल जगत् सूक्ष्मजगत्से निकला है अर्थात् सूक्ष्मशक्तियां ही घनीभाव स्थूलशक्तिरूपमें प्रकट होती हैं, ऐसा सिद्धान्त पश्चिमके वैज्ञानिक लोगोंने भी किया है। अनन्त शून्य आकाशमें विराट्के गर्भमें अनन्तकोटि ग्रह उपग्रह सूर्य, पृथ्वी, नक्षत्र आदिका नियमित निज निज कक्षामें आवर्त्तन है इसमें भी यही विश्वव्यापिनी शक्ति कार्य्य कर रही है। इसमें दो प्रकारकी शक्ति है आकर्षण और विकर्षण, दो परस्पर विरुद्ध शक्ति रहती हैं। आकर्षणशक्ति द्वारा पदार्थ परस्परके प्रति आकृष्ट होते हैं और विकर्षण शक्ति द्वारा परस्पर पृथक् हो जाते हैं। इनमेंसे किसी एक द्वारा भी या एकके प्रबल होनेपर भी संसारकी रक्षा नहीं हो सकती, इस लिये दोनों शक्तिकी साम्यावस्थाका ही फल है। अतः सिद्धान्त हुआ कि, ग्रहोंमें परस्परके प्रति आकर्षण विकर्षण लगा हुआ है। जब ग्रह उपग्रह आपसमें आकर्षण विकर्षण करते हैं तो [illegible] ग्रहों-के भीतर जो जीव हैं उनपर भी उस आकर्षणकी या विकर्षणकी क्रिया असर करेगी इसमें कोई सन्देह नहीं है। यह बात सभी लोग जानते हैं कि, पृथ्वीग्रहमें भी आकर्षण शक्ति है, जिससे समस्त जीवोंको पृथ्वी माता खींचती है। पृथ्वी एक बड़ा भारी चुम्बक है, जिसकी शक्ति उत्तरकी ओरसे जाती है। इसी प्रकार और सब ग्रहमें या उपग्रहमें या अन्यान्य ज्योतिष्क (नाना

होकर अखिल जागतिक जीवोंकी रक्षा करनेवाले हैं उन्हें सूर्यकी माता कहते हैं। इसी प्रकार और ग्रहोंमें भी समझना चाहिये; अर्थात् तत्तद्ग्रहोंमें चेतनसत्ताके रहनेसे ही तत्तल्लोकके जीवोंकी रक्षा हो सकती है, अन्यथा नहीं। यही आस्तिक हिन्दुशास्त्रका सिद्धान्त है। इसको पश्चिमी लोग अभी तक मान नहीं सके हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि स्थूलपदार्थमें बद्ध है, योगदृष्टि या अन्तर्दृष्टि उनमें नहीं है। अब इन ग्रह उपग्रहोंके साथ जीवका क्या सम्बन्ध है सो बताया जाता है।

भौतिक जगत् या स्थूल जगत् सूक्ष्मजगत्का ही विस्तारस्वरूप होनेसे सूक्ष्म-शक्तिका ही घनीभाव स्थूलशक्तिरूपसे प्रकट होता है, ऐसा सिद्धान्त पश्चिमी वैज्ञानिक लोगोंने भी किया है। अनन्त शून्य आकाशमें विराट्के गर्भमें अनन्तकोटि ग्रह उपग्रह धूमकेतु सूर्य नक्षत्र आदिका नियमित निज निज कक्षामें आवर्त्तन है उसमें भी यही विश्वव्यापिनी शक्ति कार्य्य कर रही है। प्रत्येक ग्रह नक्षत्रके भीतर आकर्षण और विकर्षण, दो परस्पर विरुद्ध शक्ति विद्यमान हैं। आकर्षणशक्ति द्वारा पदार्थ परस्परके प्रति आकृष्ट होते हैं और विकर्षण शक्ति द्वारा परस्पर पृथक् हो जाते हैं। इनमेंसे किसी एक द्वारा भी या एकके प्रबल होनेपर भी संसारकी रक्षा नहीं हो सकती है। स्थिति दोनों शक्तियोंके सामञ्जस्यका ही फल है। अतः सिद्धान्त हुआ कि, ग्रहोंमें परस्परके प्रति आकर्षण विकर्षण बना हुआ है। जब ग्रह उपग्रह आपसमें आकर्षण विकर्षण करते हैं तो ग्रहोंके या उपग्रहोंके भीतर जो जीव हैं उनपर भी उस आकर्षणकी या विकर्षणकी क्रिया असर करेगी इसमें कोई सन्देह नहीं है। यह बात सभी लोग जानते हैं कि, पृथ्वीग्रहमें भी आकर्षण शक्ति है। जिससे समस्त जीवोंको पृथ्वी माता खींचती है। मानो पृथ्वी एक बड़ा भारी चुम्बक है, जिसकी शक्ति उत्तरकी ओरसे जाती है। इसी प्रकार और सब ग्रहमें या उपग्रहमें या अन्यान्य ज्योतिष्क (नाना

प्रकारके ग्रहादि) में समझना चाहिये। फलतः प्रकृतिके भीतर अण्डसे लेकर ब्रह्माण्डपर्य्यन्त कोई भी इस आकर्षण विकर्षण शृङ्खला से बाहर नहीं है, क्योंकि मूल महाकर्षणशक्ति सर्व्वशक्तिमान् भगवान् हैं, जो समस्त संसारको अपनी ओर आकर्षण करते हैं, इस लिये ही उनका नाम हरि और कृष्ण है। उन्हींका ही महाकर्षण, कहीं माध्याकर्षण, कहीं चुम्बकाकर्षण, कहीं आकर्षण-विकर्षण आदि रूपसे संसारमें व्याप्त है। यही स्थूल आकर्षण-विकर्षण सूक्ष्मराज्य अर्थात् मनोराज्यमें आकर रागद्वेषरूपेण परिणत हो जाता है। जब तक जीव प्राकृतिक आकर्षण विकर्षणमें रहता है तबतक जीवका जीवत्व और वैषयिकभाव बना रहता है। जब जीव प्राकृतिक समस्त आकर्षण विकर्षणके मूलमें भगवान्‌की सर्व्वशक्तिमयी महाकर्षण शक्तिको अनुभव करलेता है तब ही संसारसे वैराग्य अवलम्बन करके भक्तिमार्गके द्वारा मुक्त होजाता है। परन्तु ये सब तत्त्व भक्तिशास्त्रके हैं। यहां पर इतना ही सिद्धान्त हुआ कि, ग्रह उपग्रह और समस्त ज्योतिष्क मण्डली, यथा-सूर्य्य चन्द्रमादिके साथ जीवमात्रका ही आकर्षण-विकर्षण-सम्बन्ध प्राकृतिकरूपसे बना हुआ है। इस आकर्षण तथा विकर्षणका तारतम्य ग्रह उपग्रहोंकी अपनी अपनी कक्षापर स्थितिके तारतम्यानुसार हुआ करता है। दृष्टान्तरूपसे समझ सक्ते हैं कि, चन्द्रके साथ पृथिवीका और पृथिवीस्थ सब जीवोंका आकर्षण सम्बन्ध है। यह आकर्षण सर्व्वदा रहनेपर भी पूर्णिमाके दिन चन्द्रके बहुत पास रहनेसे बहुत अधिक हो जाता है। जिससे समुद्रका जल उछलने लगता है और मनुष्यके शरीर और मनमें भी भावान्तर होता है। इसको सभी लोग जानते हैं। स्थूल आकर्षण शरीरपर होता है इसलिये पूर्णिमाके दिन ऋषियोंने उपवास व्रत आदि करनेको लिखा है, अन्यथा रसाधिक्ययुक्त शरीरपर आकर्षण होनेसे मनुष्यशरीर रोगग्रस्त हो सक्ता है और मनके देवता चन्द्र

हैं इसलिये मनके साथ भी अधिक आकर्षण-सम्बन्ध होनेसे मानसिक प्रेम वात्सल्य आदि वृत्तियोंमें भिन्न समानता भी होती हैं, इसलिये व्रत संयम जप-ध्यान आदिकी विधि सब भिन्न ऋषियोंने बताई है, जिससे उचित आकर्षण पर उनका नियन्त्रण होकर उनकी अवनति न हो। इसी प्रकार अन्तरिक्ष ग्रह उपग्रहोंके साथ भी आकर्षण सम्बन्ध है। अब कर्मोंके विषय पर विचार किया जाता है।

मनुष्यका शरीर प्रारब्ध कर्मोंका ही अधिष्ठान है। पूर्व जन्मोंमें कृत कर्मोंमेंसे बलवान फलोन्मुख कर्म प्रारब्ध कहलाकर उसीका स्थूल शरीर उत्पन्न करते हैं। प्रारब्ध कर्मोंके अनुसार ही मनुष्यको पिता माता भी प्राप्त होते हैं। जाति, आयु और भोग सभी प्रारब्ध कर्मोंका फलरूप हैं। योगदर्शनमें लिखा है कि:-

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

प्रारब्ध कर्मके मूलमें रहनेसे उसका परिणामरूप जाति, आयु और भोग, उसीके परिणामरूपसे प्राप्त होते हैं। जब जन्म प्रारब्ध शरीरसे हुआ और ग्रह [illegible] वैसा-ही प्रारब्धरूप शरीरसे हुआ, तो प्रारब्धकर्मोंके अनुसार मनुष्यके जन्मके समय ग्रह उपग्रहोंकी स्थिति भी सम या विषम होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। जिसका प्रारब्धकर्म जिस प्रकार है उसकी जन्मकी [illegible] ग्रह उपग्रहोंकी अनुकूल या प्रतिकूल स्थिति होकर उनके आकर्षण सम्बन्धके अनुसार नवग्रहोंका प्रभाव पड़ता है। और आकर्षण, विकर्षणका प्रभाव भी वैसा ही हुआ करता है, इसमें सन्देह नहीं। अतः जो लोग केवल कर्मोंका ही नाम लेकर ग्रह उपग्रहोंका सम्बन्ध उड़ा देते हैं वे भ्रान्त हैं, क्योंकि कर्मोंके ही अनुसार जीवके साथ प्राकृतिक आकर्षण विकर्षण-सम्बन्धयुक्त ग्रह उपग्रहोंकी स्थिति जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त रहा करती है और कर्मोंके परिवर्तनके अनुसार उनकी स्थिति और प्रभावमें भी परिवर्तन हुआ करता है। अब ज्योतिषी

लोग ग्रह उपग्रहोंके विषय गणितविशारद द्वारा सबकुछ जान सके हैं, तो किस ग्रहकी कहांपर स्थिति होनेसे कौन कर्म प्रबल या दुर्बल होना चाहिये यह भी वे कह सकेंगे, इसमें सन्देह नहीं हो सकता है, क्योंकि कर्मके साथ शरीरका और शरीरके साथ ग्रहोंका सम्बन्ध है। अब ग्रहशान्तिका क्या प्रयोजन या सम्बन्ध है सो बताते हैं।

यह बात विज्ञानसिद्ध है कि, कर्म मन्द नहीं होनेपर भी दूसरे कर्मोंके द्वारा मन्द कर्म दब जाते हैं अतः यदि किसी मनुष्यका कोई प्रारब्ध या क्रियमाण प्रबल कर्म अशुभ हुआ तो उसका ग्रह भी उसीके अनुसार मन्द होगा, अर्थात् जिस स्थानपर वह ग्रह उसीके कर्मानुसार रहेगा, उस स्थानसे उसके शरीर या मनपर आकर्षण विकर्षणका कार्य्य मन्द करेगा। अब यदि ऐसा कोई अनुष्ठान या क्रिया हो जिससे द्वारा वह असत् कर्म दब जाय, तो वह बात अवश्यम्भ है कि मन्द कर्मके दब जानेसे उसका ग्रह भी शान्त हो जायगा; अर्थात् मन्द कर्मानुसार जो ग्रहोंके आकर्षण विकर्षणका प्रभाव अशुभ था वह सुधर जायगा, यही ग्रहशान्तिका तत्त्व है। पण्डित ज्योतिषके इस तत्त्वको न जाननेसे अज्ञानी अब वस्तुका अपने पण्डित होते हैं; परन्तु धीर होकर विचार करनेसे यथार्थ तत्त्व विदित होगा और वेदोक्त उन सब शान्तिपाठ या शान्ति क्रियाओंका ठीक ठीक तात्पर्य्य हृदयङ्गम होगा। अथर्व्ववेदमें लिखा है कि:—

"शन्नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा"।
"शन्नो मित्रः शं वरुणः शं विवस्वान्"।
"आरेवती चाश्वयुजौ भगं म आमेरयि भरण्य आवहन्तु"।

ग्रह, चन्द्र, आदित्य तथा राहु हमारे लिये शान्तिदाता हों, मित्र, वरुण और विवस्वान हमारा कल्याण करें। रेवती, अश्विनी, भरणी आदि हमको ऐश्वर्य्य और धन दें। इत्यादि बहुत शान्तिमूलक मन्त्र

वेदमें मिलते हैं। इसी तरहसे अपदेवताकी भी शान्ति हो सक्ती है। अपदेवता दैवी जगत्की तामसिक शक्तियाँ हैं। जिस प्रकार ग्रहोंका स्वाभाविक सम्बन्ध जीवोंके साथ रहता है उसी प्रकार उन सब तामसिक शक्तियोंका सम्बन्ध तामसिक कर्म्ममय प्रकृतिके साथ रहता है, क्योंकि दोनों ही तामसिक होनेसे प्राकृतिक मेल है अतः मनुष्योंका प्रारब्ध या बलवान् क्रियमाण कर्म्म असत् अर्थात् तामसिक हो, तो उन सब शक्तियोंका मनुष्यपर अत्याचार हो सक्ता है। इस अत्याचारकी शान्ति ग्रहशान्तिकी रीतिपर अच्छे सात्त्विक कर्म्म या अनुष्ठान करनेसे होसक्ती है, क्योंकि पूर्व्वकथित विज्ञानानुसार अच्छे कर्म्मसे बुरे कर्म्म दब जायँगे और बुरे कर्म्मके दब जानेसे तामसिक शक्तियोंका प्रभाव जीवके ऊपर नहीं होसकेगा। इसलिये अपदेवता पिशाचादिको भी शान्ति वेदमें लिखी है। यजुर्वेदमें लिखा है कि:—

न तद्रक्षांसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः
प्रथमजं ह्येतत्। यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं
स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः।

जो सुवर्णको धारण करते हैं, राक्षस और पिशाच उनको आक्रमण नहीं करसक्ते. यह देवताओंका प्रथम तेज है, इस दाक्षायण तेजको जो धारण करता है वह देवलोक मनुष्यलोक सकल स्थानोंमें ही दीर्घायु होता है। यहां सब फलित ज्योतिषकी सत्यताके विषयमें प्रमाणरूप हैं। जिन कारणोंसे आजकल फलित ज्योतिषके विषयमें लोगोंके हृदयमें सन्देह हो रहे हैं, उनका उल्लेख नीचे किया जाता है: पहला कारण यह है कि, आजकल ज्योतिषशास्त्रके जाननेवाले पण्डित बहुत ही कम रह गये हैं। अपूर्ण पण्डितोंसे इस प्रकार जन्मपत्र बनानेपर भूल तो हो ही जायगी, इसमें सन्देह क्या? परन्तु बनानेवालोंकी अपूर्णताका दोष फलित ज्योतिषशास्त्र-

पर नहीं लगना चाहिये। दूसरा कारण यह है कि, जन्मकालमें जिस ग्रहोंके जिस डिग्री या सेकण्डपर बालक भूमिष्ठ होता है, उसको गृहस्पष्टता [illegible] ठीक ठीक विचारसे नहीं देखते। कई कारणोंसे [illegible] डिग्री इधर उधर हो ही जाता है, इससे ग्रहोंके स्थानोंमें [illegible] और उसी क्रम-भ्रम समयके अनुसार जन्मपत्रमें [illegible] [illegible] हो जाता है, इसका दोष गृहस्थपर है, फलित ज्योतिषपर नहीं है। तीसरा और चौथा कारण पहले ही कहा गया है, यथा—[illegible] ज्योतिषशास्त्रके बहुत ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं, [illegible] [illegible] विषयका पता नहीं चलता है और [illegible] [illegible] भ्रम हो सकता है। और चौथा कारण यह है कि, प्राकृतिक परिवर्तनके अनुसार ग्रहोंकी भी गतिमें परिवर्तन हो गया है, इसका [illegible] ठीक जाननेके लिये या तो योगशक्ति, या इन्स्ट्रुमेंटकी सहायता चाहिये सो दोनों ही बातोंका आजकल अभाव है, अतः फलित ज्योतिषपर दोषारोप न करके उसका संस्कार करना ही [illegible] उत्तम होगा।

—:०:—

उपवेद।

जिस प्रकार [illegible] [illegible] वेदोंको [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] अन्तःकरणमें अपौरुषेय वेदोंका [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ऋषियोंने लौकिक व्यवस्था-के अर्थ [illegible] [illegible] [illegible] शिल्पशास्त्रीय और कलाकौशल [illegible] [illegible] [illegible] किये। ये शास्त्र चार भागोंमें विभक्त हैं, और ये उपवेद कहाते हैं। यथा—

आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः।
स्थापत्यवेदमपरमुपवेदश्चतुर्विधः॥

आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और स्थापत्यवेद। जिस प्रकार लौकिक पुरुषार्थयुक्त योग, साधनयुक्त उपासना और वैदिक कर्म परम्परारूपसे अलौकिक मुक्तिपदकी प्राप्तिमें सहायक होते हैं, जिस प्रकार यावत् लौकिक और पारलौकिक अभ्युदय परम्परारूपसे निःश्रेयसप्राप्तिके सहायक होते हैं, जिस प्रकार धर्म, अर्थ और काम ये तीनों परम्परारूपसे अन्तिम फल, मोक्षकी प्राप्तिमें हेतु होते हैं, और जिस प्रकार किसी जीवकी लौकिक उन्नति उसकी आध्यात्मिक उन्नतिका उपाय होता है, उसी प्रकार ये उपवेदसमूह मनुष्यकी क्रमोन्नतिके सहायक हैं, और क्रमोन्नतिके परम्परारूपसे सहायक होनेके कारण ये पौरुषेय होनेपर भी उपवेद कहाते हैं।

(आयुर्वेद)

सकल प्रकारके साधनके लिये शरीर मुख्य कारण है। शरीर स्वस्थ और सबल बिना रहे मनुष्य न ऐहलौकिक उन्नति कर सकता है, और न पारलौकिक उन्नति कर सकता है। इस कारण शारीरिक मङ्गलका सहायक चिकित्सा-शास्त्र-रूपी आयुर्वेद सबसे प्रथम माना गया है। आर्य्यजातिके आयुर्वेदमें सृष्टिविज्ञान, शारीरिकविज्ञान, धातुविज्ञान, रोगोत्पत्तिविज्ञान, रोगपरीक्षाविज्ञान, काष्ठादिकचिकित्साविज्ञान, रसायनचिकित्साविज्ञान, अस्त्रचिकित्साविज्ञान आदि अनेक वैज्ञानिक रहस्योंका वर्णन है। आर्य्यगणके सब शास्त्र अभ्रान्त वैज्ञानिक भित्तिपर स्थित हैं। आजकलकी पश्चिमीय उन्नत जातियोंको जो पदार्थविद्यायें हैं, वे सब क्रमशः परीक्षा द्वारा निर्णीत हुई हैं; अर्थात् साधारण मनुष्य-बुद्धिके प्रयोग द्वारा क्रमशः परीक्षा करते हुए वे विद्यायें प्रकट हुई हैं। परन्तु प्राचीन-

कालमें पदार्थविद्याके सम्बन्धमें जो कुछ उन्नति हुई थी, उसके प्रकाशक योगिराज महर्षिगण थे। इस कारण उस समयकी आवश्यकताके लिये उन्होंने जो कुछ अपनी योगयुक्त बुद्धिसे देखा था, वह सब अभ्रान्त ही देखा था। उस समयकी पदार्थविद्या दार्शनिक सिद्धान्तोंसे भी सिद्ध थी। उदाहरणस्वरूप समझ सकते हैं कि, जिस प्रकार सृष्टिके स्वाभाविक सप्त भेद दर्शनसिद्ध हैं, यथा—सप्त ऊर्ध्वलोक, सप्त अधोलोक, सप्त व्याहृति, सप्त रङ्ग, सप्त स्वर, सप्त ज्ञानभूमि इत्यादि; उसीप्रकार आयुर्वेदके अनुसार शरीरमें भी सप्त धातु माने गये हैं। द्वितीयतः जिसप्रकार सृष्टि त्रिगुणात्मक होनेके कारण सृष्टिके सब विभाग त्रिगुणात्मक हैं, यथा—त्रिविध ज्ञान, त्रिविध कर्म, त्रिविध भाव, त्रिविध अधिकार इत्यादि; उसीप्रकार आयुर्वेदशास्त्रने वात, पित्त, कफ, इन तीनोंपर शारीरिकविज्ञान स्थित किया है। अस्तु आयुर्वेद अभ्रान्त सिद्धान्तयुक्त है और आयुर्वेदोक्त औषधियां भारतकी प्रकृतिके अनुकूल हैं; इस कारण आर्यजातिके लिये आयुर्वेद-चिकित्सा सबसे अधिक हितकर है। प्राचीनकालमें महर्षियोंने इस शास्त्रके अनेक ग्रन्थोंका प्रणयन किया था, परन्तु उनका शतांश भी इस समय उपलब्ध नहीं होता है। हां यह शास्त्र कुछ प्रत्यक्ष फलप्रद है, इस कारण और उपवेदोंसे इसके अधिक ग्रन्थ मिलते हैं। वर्त्तमान पाश्चात्य जातियोंने आर्य्यजातिकी इस लोकहितकारी विद्याको प्राचीन ग्रीकजातिके द्वारा प्राप्त किया था और तदनन्तर उन्होंने शस्त्रचिकित्सा और रसायनचिकित्सामें बहुत कुछ उन्नति की है। भारतवर्षमें आयुर्वेद विद्याका पुनः प्रचार होते समय उक्त पाश्चात्य जातिके आविष्कारोंका ग्रहण किया जा सकता है।

(धनुर्वेद)

धनुर्वेदके ग्रन्थोंमें मनोविज्ञान, शरीरविज्ञान, मन्त्रविज्ञान, लक्ष्य-

सिद्धि, अस्त्र-शस्त्रविज्ञान, युद्धविज्ञान आदि अनेक विषयोंका वर्णन था। जिस प्रकार आयुर्वेदशास्त्र शारीरिक स्वास्थ्य और बलदायक है और शरीर स्वस्थ्य होनेसे मुक्तिप्राप्ति तकका सहायक होता है; उसी प्रकार धनुर्वेदशास्त्र स्वधर्मरक्षा, जातिगत जीवनरक्षा, शान्तिरक्षा स्वदेशरक्षा आदिका प्रधान सहायक है और आधिभौतिक मुक्ति अर्थात् जातिगत स्वाधीनतारूपी मुक्ति प्राप्त करनेका तो यह शास्त्र एकमात्र अवलम्बन है। मनुष्यके लिये महर्षियोंने केवल दो प्रकारकी विहित मृत्यु लिखी है, यथा—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाऽभिमुखे हतः॥

(मनुसंहिता)

योग द्वारा उत्तम मृत्यु और धर्मयुद्धमें कीर्तिकर मृत्यु, दोनों मृत्यु ही मुक्तिदायक हैं। इन दोनोंके अतिरिक्त खटियापर लेटे हुए मृत्यु होना आर्य्यजनोचित नहीं है। योगमृत्यु और युद्धमृत्यु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, यहां तक कि, नारियोंके लिये भी समान फलप्रद है, इसमें सन्देह नहीं। युद्धविद्या भी केवल धर्मलक्ष्यसे ही लक्षित है, अधर्मयुद्ध सर्वथा निन्दनीय और अहितकर है। इस शास्त्रके अनेक ग्रन्थ प्राचीनकालमें प्रचलित थे, परन्तु इस समय सम्पूर्ण ग्रन्थ एक भी नहीं मिलता। यद्यपि इस समय देशकालके अनुसार पाश्चात्य जातियोंने अनेक प्रकारके युद्धपोत और जलयान व्योमयान आदिका आविष्कार किया है, यद्यपि आजकलकी कलाकुशल पाश्चात्य जातियोंने विभिन्न प्रकारके शस्त्रों और गोलाबारूद आदिका निर्माण किया है, परन्तु जितने लौकिक अथवा दिव्य अस्त्र-शस्त्र प्राचीनकालमें प्रचलित थे, जिस प्रकार विमाननिर्माण करनेकी शैली प्रकट थी, जिस प्रकार व्यूहरचनाप्रणाली प्राचीन आर्य्यगणको विदित थी, वैसी विचित्रता अभी तक प्रकट नहीं हुई है।

आर्य्यजातिमें युद्धविद्याकी कुछ विलक्षणता थी। वीरताकी पराकाष्ठा, सरलनीतिकी पूजा और सब दशामें धर्मका प्राधान्य, आर्य्य-युद्धविद्या द्वारा अनुमोदित था। श्रीरामचन्द्र, भीष्म, अर्जुन आदिके समयकी तो बात ही क्या है अभी दो शताब्दी पूर्व मेवाड़ाधिपति-कुलोद्भव वीरात्मगणोंने जो धर्म्म, धैर्य्य, त्याग, शौर्य्य आदि गुणावलीका परिचय दिया है, उसका उदाहरण जगत्में नहीं मिलता। श्रीमहाभारत आदि ग्रन्थोंमें तो ऐसे उदाहरण बहुत मिलते हैं, परन्तु इस समयमें भी उक्त राजकुलमें ऐसे अनेक धार्म्मिक योद्धा हुए हैं, जो दिनमें धर्म्मयुद्ध करते और रात्रिमें धर्म्मयुद्धका अवसान होनेपर परस्परकी सेवा और चिकित्सा एक दूसरेके शिविरमें जाकर करते थे। धनुर्वेदके लुप्त होजानेसे क्षात्रतेजका नाश होगया है और ब्रह्मतेज भी सहायहीन होकर मलिन होगया है।

(गान्धर्ववेद)

धनुर्वेदके ग्रन्थोंका जिस प्रकार चिह्नमात्र भी नहीं मिलता, गान्धर्ववेदकी वैसी दशा नहीं है। गान्धर्ववेदके कई लौकिकग्रन्थ मिलते हैं और दो चार आर्षग्रन्थ भी छिन्न विच्छिन्नदशामें मिलते हैं। जिस प्रकार आयुर्वेदसे शरीरका सम्बन्ध है उसी प्रकार मनके साथ गान्धर्ववेदका सम्बन्ध है। सङ्गीतकी सहायतासे मन स्वस्थ और बलशाली होता है। श्रीभगवान्ने कहा है कि:—

वेदानां सामवेदोऽस्मि।

(गीतोपनिषद्)

मैं वेदोंमें सामवेद हूं। ऐसा कहकर जो सामवेदकी प्रधानता कही है सो गान्धर्ववेदकी सहायताके कारण है। सामवेदकी तरह लोकमोहन और वेद नहीं है। इसीकारण इसका और वेदोंसे सहस्रगुण विस्तार हुआ था।

पूजाकोटिगुणं स्तोत्रं स्तोत्रात्कोटिगुणो जपः।
जपात्कोटिगुणं गानं गानात् परतरं न हि॥

उपासनाकाण्डसम्बन्धी शास्त्रोंने सर्वोपरि सङ्गीतकी महिमाका कीर्तन किया है। प्राचीनकालमें गान्धर्ववेद प्रधानतः दो भागोंमें विभक्त था। यथा—देशीविद्या और मार्गीविद्या। देशीविद्या लोकरञ्जनकर और मार्गीविद्या वेदगानोपयोगी है। इनमेंसे आधा शास्त्र एकबार ही लुप्त होगया है, मार्गीविद्याका चिह्नमात्र भी पृथिवी पर नहीं है। इस समय जो साम गानेकी शैली है वह यथार्थ नहीं है, परन्तु इस प्रकारकी शैलीसे सामकी असाधारण महिमामें बट्टा लगता है। प्राचीनकालमें सोलह सहस्र राग-रागिणी और ३३६ ताल व्यवहृत होते थे, अब पचास शुद्ध राग रागिणी और दश ताल-के भी व्यवहार करने योग्य गायक नहीं मिलते। प्राचीनकालमें लोकरञ्जनकरी देशीविद्या त्रयीविद्या भी कहाती थी, क्योंकि देशी-विद्याके तीन विभाग हैं। यथा-गीत, वाद्य और नृत्य। प्राचीन नृत्यविद्याका शुष्क कङ्काल आजकलके कत्थकोंका नृत्य है। और ग्रन्थोंके विषयमें यही कहा जा सकता है कि, आर्षग्रन्थ सम्पूर्ण एक भी नहीं मिलते। उपर्युक्त वर्णनसे अनुमान किया जा सकता है, कि वर्तमानकालमें सङ्गीतशास्त्रकी कैसी अवनत दशा है। शब्दमय सृष्टिका निर्णायक सङ्गीतशास्त्र है। जैसे मूलप्रकृतिसे कार्यरूपी यह भौतिकसृष्टि उत्पन्न हुई है उसी प्रकारसे प्रथम सप्तस्वर और तत्पश्चात् सप्तभावमय सृष्टिका आविर्भाव होना सङ्गीताचार्य्यगण स्वीकार करते हैं। प्रणवके साथ ईश्वरका साक्षात् सम्बन्ध है, इसकारण सङ्गीतकी सहायासे अन्तःकरणकी उन्नति और ईश्वरका साक्षात्कार होना गान्धर्ववेद-विज्ञान सिद्ध करता है। इस समय जो कुछ स्वल्परूपसे यह शास्त्र उपलब्ध होता है उसकी विशेष उन्नति होनेसे आर्य्यजातिकी मानसिक उन्नतिमें विशेष सहायता

होगी, इसमें सन्देह नहीं है। इस समय आर्य्यजातिकी जातीय अवनतिके साथ ही इस विद्याकी बहुत ही अवनति हो गई है। प्रायः अन्य धर्म्मावलम्बियोंके हाथ इसका क्रियासिद्धांश चला गया है और शोकका विषय यह है कि, विवाह आदि उत्सवोंमें और वहां तक कि, सेनादलके रणवाद्यमें स्वदेशीय गीतके स्थानमें विदेशीय वाद्यादिक व्यवहृत होते हैं, इसका अवश्य संस्कार होकर जातीय सङ्गीतकी पुनरुन्नति होनी चाहिये। आर्य्यसङ्गीतशास्त्र पृथिवीभरमें एक अलौकिक शास्त्र है। अतः इस विषयको विस्तारितरूपसे ग्रन्थान्तरमें वर्णन किया गया है।

(स्थापत्यवेद)

स्थापत्यवेदमें नानाप्रकारके शिल्प, कला, कारु-कार्य्य और पदार्थविद्या (सायन्स) का वर्णन था। शास्त्रोंमें ऐसा वर्णन है कि यह वेद बहुत बड़ा था और चौंसठ विभागोंमें विभक्त था। जिस प्रकार अन्तर्जगत्सम्बन्धीय उन्नतिका लक्षण दार्शनिक उन्नतिसे परिज्ञात होता है, उसी प्रकार लौकिक बुद्धि अर्थात् मनुष्यकी बाह्य उन्नति, उस मनुष्यजातिके शिल्प, कला, कारुकार्य्य और पदार्थविद्यासम्बन्धीय उन्नतिसे समझी जाती है। प्राचीन कालमें आर्य्यजातिके द्वारा अट्टालिकानिर्माण, सेतुनिर्माण, मन्दिरादिनिर्माण, प्रस्तरसम्बन्धीय कारुकार्य्य आदिकी कितनी उन्नति हुई थी सो, आजकल जो ध्वंसावशेष मिलते हैं, उनके देखनेसे भी कुछ जाना जा सकता है। बहुतसे चिह्न अभी ऐसे विद्यमान हैं जिनको देखकर पाश्चात्य प्रसिद्ध शिल्पीगण चकित होकर मनुष्यशक्तिसे उनका होना असम्भव समझते हैं। प्राचीन आर्य्योंमें पशुविद्या, प्रस्तरविद्या, लौहादिक कठिन धातु और सुवर्णादि कोमल धातुकी उपयोगी विद्याएँ, वनस्पतिविज्ञान, नानाप्रकारके यानविनिर्माणकी विद्या, भूमिके अन्तर्गत पदार्थ और जलनिरोधकी विद्या, कृषिविद्या,

नाना वस्त्र आभूषण तथा रत्नोंके सम्बन्धको शिल्पविद्या, आकाशतत्त्व विद्या, वायुतत्त्वविद्या, अग्नितत्त्वविद्या आदि अनेक लोकोपकारी शिल्प तथा पदार्थविद्याओंका विकास भलीभाँति हुआ था, इसको प्रमाण वर्तमान ध्वंसावशेष चिह्न हैं और प्राचीन पुस्तकोंसे भी भलीभाँति परिज्ञात होता है। भारतकी शिल्पोन्नति ही इसका कारण है कि, परमोद्योगी पाश्चात्य जातियोंने जलपथका आविष्कार किया था।

चारों उपवेद अब लुप्तप्राय होगये हैं। संस्कृत और देशभाषा द्वारा इन चारों उपवेदोंके भण्डारको यथासम्भव पूर्ण करनेमें धार्मिक विद्वानोंको परिश्रम करना चाहिये। इस समय पृथिवी-भरकी अन्यजातियोंमें जहां इनके उपयोगी विषय, मिलें अपनी भाषाके ग्रन्थोंमें उनका संग्रह करना चाहिये।

दर्शन-शास्त्र।

—:*:—

(वेदोपाङ्ग)

अध्यात्म-उन्नतिके सात क्रम हैं,उन्हीं सात क्रमोंके अनुसार वैदिक दर्शन शास्त्रोंको भी पूज्यपाद महर्षियोंने केवलसात श्रेणोंमें ही विभक्त किया है। ये सातों दर्शन त्रिभावोंके अनुसार तीन भावमें विभक्त हैं। यथाः—न्यायदर्शन और वैशेषिकदर्शन पदार्थवादसम्बन्धीय, वैसे ही योगदर्शन और सांख्यदर्शन सांख्यप्रवचनसम्बन्धीय एवं कर्म्म-मीमांसा, दैवी-मीमांसा और ब्रह्म-मीमांसा, ये तीनों वेदोंके काण्डत्रयके अनुसार मीमांसासम्बन्धीय दर्शन कहाते हैं। इन सातोंके अतिरिक्त और किसी दार्शनिकसिद्धान्तको आर्य्यगण स्वीकार नहीं करते। जो कोई और दर्शन देखने और सुननेमें आते हैं वे अन्तर्भाव-

रूपसे इन्हीं सातोंमें प्रविष्ट हैं। इन सातों दर्शनोंका मुख्य उद्देश्य आत्यन्तिक दुःखनाश और नित्यानन्दकी प्राप्ति है। प्रकृतिविलासरूप संसार दुःखमय है, इसमें जो कुछ सुख है वह भी क्षणभंगुर और दुःखका ही पूर्वरूपमात्र है, इसलिये नित्यानन्दमय अमृतके पुत्र नश्वर सुखमय दुःखपूर्ण इस संसारमें सुख-लाभ नहीं कर सकते, इसीलिये जीव आत्यन्तिक दुःखनाश और सुख-प्राप्तिके अर्थ इतस्ततः भ्रमण करते हैं। दर्शन शास्त्र जीवको दुःखमय संसारसे मुक्त कर आनन्दमय ब्रह्मधाममें पहुंचाता है इसलिये इसका नाम दर्शनशास्त्र है। सकल दर्शनशास्त्रका प्रतिपाद्य विषय दुःखनाश और सुखप्राप्ति होनेपर भी प्रथम ज्ञानभूमियोंके दर्शनोंके साथ प्रकृतिका सम्बन्ध अधिक होनेसे उनमें प्रधानतः दुःखनाश ही लक्षीभूत है और अन्तिम ज्ञानभूमियोंके दर्शनोंके साथ प्रकृतिसे परे आनन्दमय ब्रह्मभावका सम्बन्ध अधिक होनेसे उनमें नित्यानन्दमय स्वरूप-स्थिति अधिक लक्षीभूत की गई है। इन सात दर्शन-सिद्धान्तोंके तीन विभागको इस प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि, प्रथम दो स्थूलविज्ञान, अर्थात् अनुमानसे दुःखकी निवृत्तिकी भूमि बताना, दूसरे दो सूक्ष्म विज्ञान अर्थात् बीचकी भूमिमें ठहर कर दोनों ओरका पता लगाना और तीसरे तीनों कारण विज्ञानमय हैं, अर्थात् उनमें क्रमशः उत्तरोत्तर अत्यन्त दुःखनिवृत्तिकी अवस्थाका स्वरूप निर्णय होता है। अब इन सातों दर्शनोंके विषयमें संक्षेपसे आलोचना की जाती है।

(न्यायदर्शन)

न्यायदर्शन महर्षि गौतमप्रणीत है, इसको आन्वीक्षिकी तथा अक्षपाददर्शन भी कहते हैं। प्रमाणके द्वारा पदार्थोंका निरूपण, अथवा दूसरोंके समझानेके लिये प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, और निगमन, इन पांच अवयवकी अवतारणाका नाम न्याय है।

न्यायदर्शनको प्रधानतः तीन भागमें विभक्त कर सकते हैं, यथा, तर्क, न्याय और दर्शन। तर्कांशमें तर्कनिर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा आदि विषय हैं। न्यायांशमें प्रमाण आदिके विषयमें चर्चा की गई है और दर्शनांशमें आत्मा अनात्माकी आलोचना है। न्यायदर्शन पांच अध्यायोंमें विभक्त है और प्रत्येक अध्यायमें दो दो आह्निक हैं इससे प्रतीत होता है कि, महर्षि गौतमजीने न्यायदर्शनको दस दिनमें बनाया था। न्यायदर्शनका प्रतिपाद्यविषय दुःखनिवृत्ति है। संसार दुःखमय है, इसमें जो कुछ सुख है वह भी दुःखयुक्त होनेके कारण दुःख ही है। जन्म होनेसे ही दुःख होता है अतः यदि दुःखका नाश करना हो, तो जन्मका नाश करना पड़ेगा। जन्मका कारण प्रवृत्ति है, प्रवृत्तिका कारण रागद्वेष मोहात्मक दोष है, दोष भी मिथ्या ज्ञानसे उत्पन्न होता है, अतः मिथ्याज्ञान नष्ट होना चाहिये, नहीं तो दुःखनिवृत्ति नहीं होगी; इसलिये महर्षि गौतमने सूत्र दिया है कि:—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरो-
त्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।

उल्लिखित दुःख जन्म आदियोंका उत्तरोत्तर नाश होकर अन्तमें मिथ्या ज्ञानके नाश होनेसे जीवको मुक्ति होती है। मिथ्याज्ञान नष्ट करनेका उपाय क्या है? न्यायदर्शनकी सम्मतिमें तत्त्वज्ञान ही मिथ्या ज्ञान नष्ट करनेका उपाय है, अतः तत्त्वज्ञानके लाभसे ही अपवर्ग अर्थात् आत्यन्तिक दुःखनाश होता है।

तत्त्वज्ञान किसका होना चाहिये? इसके उत्तरमें न्यायदर्शनमें लिखा है कि:—

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्त-
सिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डा-

हेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां
तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ॥

निःश्रेयस पदवी या आत्यन्तिक दुःखनाशके लिये प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान इन षोड़श पदार्थोंका तत्त्वज्ञान होना चाहिये। न्यायदर्शनमें इन षोड़श पदार्थोंका लक्षण-विचार अच्छी तरहसे किया गया है जिसका संक्षेप वर्णन नीचे किया जाता है।

इनमें प्रथम पदार्थ प्रमाण है। यथार्थज्ञानका नाम प्रमा और प्रमाका जो करण अर्थात् यथार्थज्ञान लाभ करनेका जो उपाय है उसको प्रमाण कहते हैं। न्यायदर्शनके मतमें प्रमाण चार प्रकारका है। यथाः—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इन्द्रियके द्वारा उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है। अनुमानके अर्थ महर्षि गौतमने कहा है कि:—

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत्
शेषवत् सामान्यतो दृष्टञ्च।

अनु पश्चात् अर्थात् लिङ्गदर्शनके पश्चात् जो मान या ज्ञान अर्थात् लिङ्ग लिङ्गीका जो सम्बन्धज्ञान है उसे अनुमान कहते हैं, अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक है, क्योंकि लिङ्गके प्रत्यक्ष न होनेसे लिङ्ग लिङ्गी का सम्बन्ध स्मरण नहीं हो सकता है। यथाः—चूल्हेमें आग (लिङ्गी) और धुआँ (लिङ्ग) का एक साथ रहना पहलेसे देखनेपर ही पीछे कभी पर्वत पर धूम देखनेसे अग्निका अनुमान हो सकता है। अनुमान तीन तरहका है। यथाः—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। मेघको देखकर वृष्टिका अनुमान पूर्ववत् अनुमान है। इसमें कारणको देखकर कार्य्यका अनुमान है। नदीमें जलवृद्धि देखकर पर्व्वतपर वृष्टिका अनुमान शेषवत् अनुमान है।

इसमें कार्य्यको देखकर कारणका अनुमान है। कारण अथवा कार्य्यके न रहनेपर भी सामान्यतः देखकर जो अनुमान है वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। जहाँ एकके साथ दूसरेको उपमा दी जाती है, वह उपमान है। न्यायदर्शनके मतमें सादृश्यज्ञानका साधक उपमान है। यथा:—

प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्।

पशुमें गौका सादृश्य या मुखमें चन्द्रमाका सादृश्य इत्यादि ज्ञान जिससे लाभ हो उसे उपमान कहते हैं। शब्दके लक्षणमें गौतमजीने कहा है कि:—

आप्तोपदेशः शब्दः।

भ्रम और प्रमादसे शून्य जो वाक्य है, उसको आप्तवाक्य कहते हैं। प्रमेय अर्थात् प्रमाणका विषय १२ बारह प्रकारका है। यथा:—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग। आत्मा द्रष्टा और भोक्ता है। इच्छा द्वेष प्रयोजन सुख दुःख आदि आत्माका लिङ्ग है। आत्माका भोगायतन शरीर और भोगसाधन इन्द्रिय हैं। इन्द्रिय पांच प्रकारकी हैं, प्राण रसन चक्षु त्वक् और श्रोत्र। इन्द्रियगण भूतोंसे उत्पन्न होते हैं। भूत पांच प्रकारके हैं, पृथ्वी अप् तेज वायु और आकाश। प्राणेन्द्रिय पार्थिव, रसनेन्द्रिय जलीय, चक्षुरिन्द्रिय तैजस, त्वगिन्द्रिय वायवीय और श्रोत्रेन्द्रिय आकाशीय है। इन्द्रियोंके विषयका नाम अर्थ है। यथा—प्राणेन्द्रियका विषय गन्ध, रसनेन्द्रियका विषय रस, चक्षुरिन्द्रियका विषय रूप, त्वगिन्द्रियका विषय स्पर्श और श्रोत्रेन्द्रियका विषय शब्द है। स्मरण, अनुमान, संशय, सुख आदि प्रत्यक्षका करण मन है। प्रवृत्ति तीन प्रकारकी है यथा—शारीरिक वाचिक और मानसिक। दोष तीन प्रकारका है यथा—राग द्वेष और मोह। काम

तृष्णा आदि राग, क्रोध ईर्षा आदि द्वेष, मिथ्याज्ञान प्रमाद आदि मोह है। पुनः पुनः जन्ममरणका नाम प्रेत्यभाव है। दोष और प्रवृत्तिजनित सुख दुःखका अनुभव फल है। बाधना अर्थात् तापलक्षण दुःख है।

अनवधारण ज्ञानका नाम संशय है। साधारण धर्मज्ञान, असाधारण धर्मज्ञान, विप्रतिपत्ति, उपलब्धि और अनुपलब्धि, संशयके ये पांच कारण हैं। जिसको लक्ष्य करके प्रवृत्ति होती है, उसका नाम प्रयोजन है। जिस विषयमें साधारण अर्थात् लौकिक और उत्कृष्टबुद्धि अर्थात् परीक्षक लोगोंका मतभेद नहीं होता है, उसका नाम दृष्टान्त है। अर्थका जो अभ्युपगम या निश्चय है, उसे सिद्धान्त कहते हैं। जिन शब्दोंके या वाक्योंके अनुसार साधनीय अर्थ अर्थात् साध्यकी सिद्धि होती है, उसे न्याय कहते हैं। न्यायका एकदेश अवयव है। अवयव पांच प्रकारका है। यथा—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। इस न्यायांगमें पहले एक प्रस्ताव या प्रतिज्ञा की जाती है, तदनन्तर उसका हेतु निर्दिष्ट किया जाता है, तदनन्तर उदाहरणके द्वारा हेतुका कारण दृढ़ किया जाता है, इस तरहसे हेतु निर्दिष्ट होनेपर कार्यस्थलमें उसका उपनय अर्थात् प्रयोग होता है, अन्तमें उसके द्वारा निगमन अर्थात् सिद्धान्त होता है। जिस विषयका तत्त्व मालूम नहीं हो रहा है, उस विषयमें तत्त्वज्ञानके लिये कारणकी उपपत्तिके अनुसार एक पक्षकी जो सम्भावना होती है, उसको तर्क बोलते हैं। किसी विषयका तत्त्व अज्ञात होनेसे उसके जाननेकी इच्छा स्वतः हुआ करती है, जाननेकी इच्छा होनेसे ही परस्पर विरुद्ध वार्ताकी चर्चा होती है, इस प्रकार सन्दिह्यमान दोनों धर्मोंमेंसे जिस धर्मके कारणकी उपपत्ति होती है, उसके लिये " यह ऐसा हो सकता है।" ऐसी सम्भावना भी होती है, इस सम्भावनाको ही तर्क

कहते हैं। प्रमाण और तर्कका जो फल है, उसे निर्णय कहते हैं; अर्थात् स्वपक्षस्थापनके द्वारा स्वीभूत अर्थका जो निश्चय है, उसका नाम निर्णय है। तत्त्वनिर्णयके उद्देश्यसे जो कथा प्रवर्तित होती है उसे वाद कहते हैं; अर्थात् अपना जय या प्रतिपक्षीका पराजय इसपर कुछ भी लक्ष्य न रखकर केवल तत्त्वनिर्णयके विचारसे जो कथोपकथन, वही वाद है। तत्त्वनिर्णयके प्रति लक्ष्य न रखकर प्रतिपक्षीका पराजय और स्वपक्षके जयके लिये जो शास्त्रार्थ प्रवर्तित होता है, उसका नाम जल्प है। जल्पमें वादी और प्रतिवादी दोनोंका ही स्वपक्षस्थापन और परपक्षप्रतिषेध लक्ष्य रहता है। अपना कोई भी पक्ष न रख करके केवल परपक्षके खण्डनके लिये जो शास्त्रार्थ होता है, उसका नाम वितण्डा है। दुष्ट हेतुका नाम हेत्वाभास है, अर्थात् जो हेतुकी तरह प्रतीत होता हो परन्तु वास्तवमें हेतु न हो, उसे हेत्वाभास कहते हैं। जिस अर्थके लिये वाक्यप्रयोग किया जाता है उसका विपरीत अर्थ कल्पना करके दोष उद्भावन करनेका नाम छल है। जैसा कि "नवकम्बलोऽयं मनुष्यः" इस वाक्यमें वक्ताका अभिप्राय यह है कि यह मनुष्य नूतन कम्बलसे युक्त है, परन्तु छलवादी कहेंगे कि, इस मनुष्यके पास ९ कम्बल कहां हैं? व्याप्तिकी अपेक्षा न करके केवल साधर्म्य और वैधर्म्यके बलसे जो दोष निकाला जाय उसका नाम जाति है, इसके चौबीस भेद हैं जो मूलदर्शनमें द्रष्टव्य हैं। जिसके द्वारा विचारकार्यका विपरीत ज्ञान या प्रकृत विषयमें अज्ञान प्रकाश होता है उसका नाम निग्रहस्थान है। पहले एक प्रकारकी प्रतिज्ञा करके पीछे उसका त्यागकर देना, दूसरे पक्षमें दोष होनेपर भी दोष उद्भावन न करना, दूसरेके द्वारा अपनेपर दिये हुए दोषोंका खण्डन न करना इत्यादि निग्रहस्थानके लक्षण हैं। महर्षि गौतमकी सम्मतिमें इन षोडश पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मुक्ति होती है।

शरीरसे आत्माका संयोग होनेसे अहं ज्ञानका उदय होकर आत्माको दुःख होता है, इसलिये शरीरसे आत्माको पृथक् कर देना ही इस दर्शनके अनुसार मुक्ति है। न्यायदर्शनमें ईश्वरका प्राधान्य और मुक्तिके हेतु न होनेपर भी इसमें ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार किया गया है, और बहुत प्रकारके तर्कवादके द्वारा वेदका भी प्रामाण्य स्वीकार किया है। यही संक्षेपसे न्याय दर्शनपर विवेचन है।

(वैशेषिकदर्शन)

न्याय और वैशेषिक एक श्रेणीके दर्शन हैं। महर्षि कणाद इस दर्शनके प्रवर्तक हैं। इसमें 'विशेष' नामक एक अतिरिक्त पदार्थ स्वीकृत होनेसे इसका नाम वैशेषिकदर्शन हुआ है। वैशेषिकदर्शन-में ३७० सूत्र हैं जो कि दस अध्यायोंमें विभक्त हैं और एक एक अध्यायमें दो दो आह्निक हैं इससे मालूम होता है कि २० दिनमें यह दर्शन बनाया गया है। प्रथमाध्यायके प्रथम आह्निकमें जाति-मान् अर्थात् द्रव्य गुण कर्म एवं द्वितीयाह्निकमें सामान्य या जाति और विशेष पदार्थका निरूपण किया है। द्वितीयाध्यायके प्रथमा-ह्निकमें भूतपदार्थ, द्वितीयाह्निकमें काल और दिक् एवं तृतीयाध्याय-के दोनों आह्निकोंमें आत्माका निरूपण किया है, अधिकन्तु इस अध्यायके द्वितीयाह्निकमें मनका निरूपण किया गया है। चतुर्था-ध्यायके प्रथमाह्निकमें जगत्‌का मूल कारण और कतिपय प्रत्यक्षका कारण और द्वितीयाह्निकमें शरीरपर विचार किया गया है। पञ्च-माध्यायके प्रथमाह्निकमें शारीरिक कर्म, द्वितीयाह्निकमें मानसिक कर्म एवं षष्ठाध्यायके प्रथमाह्निकमें दान और प्रतिग्रह, द्वितीया-ह्निकमें आश्रम धर्म तथा सप्तमाध्यायके दोनों आह्निकोंमें रूप आदि गुण तथा सामान्यपर विचार किया है। अष्टमाध्यायके प्रथमाह्निकमें प्रत्यक्ष ज्ञान, द्वितीयाह्निकमें ज्ञानापेक्ष ज्ञान और ज्ञानसाधन इन्द्रिय एवं नवमाध्यायके प्रथमाह्निकमें अभाव और कतिपय प्रत्यक्ष कारण,

द्वितीयाह्निकमें अनुमान स्मृति आदि तथा दशमाध्यायके प्रथमाह्निक-में सुख दुःख और द्वितीयाह्निकमें समवायी आदि कारणोंपर विचार किया गया है। प्रसङ्गतः इन सब अध्यायोंमें और सब विषय वर्णन किये गये हैं।

वैशेषिकदर्शनका प्रतिपाद्य आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति है। दर्शन-कार पहिले ही इस प्रकार ग्रन्थको प्रारम्भ करते हैं कि:—

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः॥

अब धर्मकी व्याख्या करेंगे। जिससे अभ्युदय और आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति होती है वही धर्म है। महर्षि कणादकी सम्मतिमें निःश्रेयस या आत्यन्त दुःखनिवृत्ति तत्त्वज्ञानसे होती है, अतः इसी दर्शनमें कहा है कि:—

धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्य-
विशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां
तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्।

धर्म्म विशेषसे उत्पन्न द्रव्य, गुण, कर्म्म, सामान्य, विशेष, समवाय इन छः पदार्थोंके साधर्म्य और वैधर्म्य ज्ञानजनित तत्त्वज्ञानके द्वारा निःश्रेयस लाभ होता है। इस प्रकारसे निःश्रेयसलाभका उपाय बताना ही वैशेषिक दर्शनका उद्देश्य है। साधर्म्य अर्थात् साधारणधर्म, यथा-पृथिवी जल आदि द्रव्यका साधारण धर्म द्रव्यत्व है। द्रव्यका वैधर्म्य गुणत्व है क्योंकि द्रव्यका गुणत्व द्रव्य नहीं होता है। द्रव्य नव प्रकारके हैं, यथा-क्षिति, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। क्षिति अप् तेज वायु ये चार भूत नित्य अनित्य भेदसे द्विविध हैं। परमाणुरूपमें नित्य हैं और परमाणु संघातसे उत्पन्न शरीर इन्द्रिय और विषयरूपमें अनित्य हैं। वैशेषिकके मतमें पृथिव्यादि चार प्रकारके द्रव्यके

परमाणु और आकाशादि पाँच द्रव्य नित्य हैं। आत्मा ज्ञानका आश्रय है। आत्माका मानस प्रत्यक्ष होता है। आत्मा प्रत्येक शरीरमें भिन्न भिन्न है। वैशेषिकके मतमें मन अणुपरिमाण है और आत्मा, सुख दुःखादि उत्पन्न करता है। द्रव्य गुणका आश्रय है। गुणशून्य होकर द्रव्य नहीं रह सकता है। वैशेषिकके मतमें आकाश किसी द्रव्यका आरम्भक नहीं है। आकाश विभु और शब्दका आश्रय है। जागतिक कोई पदार्थ आकाशसम्बन्धसे रहित नहीं है। जिस पदार्थमें गुणत्व जाति है उसे गुण कहते हैं। गुण २४ प्रकारके हैं यथा—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म्म और अधर्म्म। परिमाण चार तरहका है, अणु, महत्, ह्रस्व और दीर्घ। गुणोंके अलग अलग लक्षण मूलग्रन्थमें द्रष्टव्य हैं।

कर्म्म पांच प्रकारका है, उत्क्षेपण अर्थात् ऊर्द्ध्व-क्षेपण, अवक्षेपण अर्थात् निम्नक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन। सामान्यका अर्थ जाति है। जाति दो तरहकी होती है, परा और अपरा, अधिक देशवृत्ति जाति परा और अल्प देशवृत्ति जाति अपरा है, यथा—मनुष्यत्व, अश्वत्व, गोत्व आदि अपरा और प्राणित्व परा जाति है। विशेषका अर्थ किसी किसीने व्यक्ति कहा है, यथा सामान्य अर्थ जाति और विशेष अर्थ व्यक्ति है, परन्तु सबकी सम्मति ऐसी नहीं है। उनके विचारमें जिस असाधारण धर्म्मके द्वारा निरवयव पदार्थोंकी परस्पर भेदसिद्धि होती है उसीका नाम विशेष है। वैशेषिक मतावलम्बी लोग कहते हैं कि द्व्यणुकसे लेकर घटादिपर्य्यन्त समस्त सावयव द्रव्योंका परस्पर भेद अपने अपने अवयवभेदसे सिद्ध होता है, परन्तु जिस धर्म्मके द्वारा निरवयव एक जातिके दोनों परमाणुओंमें पारस्परिक भेद सिद्ध होता है

उसीका नाम विशेष है। इसी विशेष पदार्थके विश्लेषणरूप हेतु से ही इसका नाम वैशेषिकदर्शन हुआ है। समवाय नित्य सम्बन्ध है। तन्तुके साथ वस्त्रका, गुणके साथ गुणीका, घटके साथ मिट्टी का या जातिके साथ व्यक्तिका जो नित्य सम्बन्ध है, उसीको ही समवाय सम्बन्ध कहते हैं। अभावके दो भेद हैं, संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव अर्थात् सम्बन्धका अभाव तीन प्रकार का है, यथा—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव। सूखमें घड़ाका प्रागभाव है, घट फूटने से अथवा उसे देह भस्म हो जानेसे पूर्व कलमें उसका प्रध्वंसाभाव और उड़ने खेतका अत्यन्ताभाव है। अन्योन्याभाव; यथा—अश्व गज नहीं इस लिये अश्वमें गजका जो अभाव है, या गजमें अश्वका जो अभाव है, उसे अन्योन्याभाव कहते हैं। महर्षि कणादकी सम्मतिमें ऊपरके छः पदार्थ भाव पदार्थ हैं और भावका अभाव ही अभाव पदार्थ है।

वैशेषिकदर्शनके अनुसार इन षट्भाव पदार्थोंके तत्वज्ञानसे मुक्ति होती है। इसमें प्रधानतः सात पदार्थोंकी अर्थात् छः भाव और एक अभावकी संज्ञा निर्देश करके इसके बाद तत्तद्विभागान्तर्गत विभागोंकी भी संज्ञा निर्देश की गई है। इसी कारण वैशेषिकदर्शनको सप्तपदार्थ वादी भी कहते हैं। इसमें क्षिति क्या है? जल क्या है? तेज क्या है? उत्क्षेपण आकुञ्चन आदि भी क्या है? इन सबोंकी व्याख्या सूत्ररूपसे की गई है। पृथिवी आदिके लक्षणों में महर्षि कहते हैं कि:—

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी।

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः।

तेजोरूपस्पर्शवत्।

स्पर्शवान् वायुः।

त आकाशे न विद्यन्ते।

जिसमें रूप रस गन्ध और स्पर्श है वही पृथिवी है। रूप रस स्पर्शसे युक्त द्रव और स्निग्ध जल है। जिसमें रूप और स्पर्श है वह तेज है। जिसमें स्पर्श है वह वायु है। जिसमें रूप रस गन्ध स्पर्श कुछ भी नहीं है वह आकाश है। इस प्रकारसे प्रत्येक पदार्थ की संज्ञा निर्देश करके कारण परम्पराके अनुसन्धान करते हुए महर्षि कणादने यह सिद्धान्त किया है कि:—

सदकारणवन्नित्यम्।

सत्पदार्थोंमें, जिसके कारण न हो वह नित्य है। इस हिसाबसे परमाणु ही सत् और नित्य पदार्थ है, इसका कोई कारण नहीं है। परमाणुवादतत्त्व महर्षि कणादके द्वारा ही प्रचलित हुआ है। उनकी सम्मतिमें यह संसार परमाणुके संयोगसे उत्पन्न हुआ है। यह संयोग किसी अव्यक्त कारणसे होता है। प्रशस्तपाद आचार्यने इसको भगवान्‌की इच्छा कही है। पृथिवीके सकल पदार्थ परमाणुके समष्टिमात्र हैं। विभाग करते करते सभी पदार्थ जब सूक्ष्मतम दशा को प्राप्त होते हैं, जिस दशामें उनको फिर विभक्त नहीं किया जा सकता है, वही अविभाज्य सूक्ष्मतम पदार्थ ही नित्य परमाणु हैं। वैशेषिकदर्शनमें ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार किया गया है, परन्तु जीवकी मुक्तिके साथ उसका सम्बन्ध विशेष नहीं बतलाया गया है। उनकी सम्मतिमें पदार्थोंके तत्त्वज्ञानके द्वारा अदृष्टका नाश होता है जिससे जीवको मुक्ति मिलती है। वैशेषिकके मतमें प्रमाण दो तरहके हैं, प्रत्यक्ष और अनुमान। शब्दप्रमाण अनुमानके ही अन्तर्गत है। किसी द्रव्यके लानेके लिये कहनेसे शब्द सुनकर ही उस द्रव्यके विषयमें अनुमान होता है, अतः शब्द भी अनुमान प्रमाणके अन्तर्गत है। प्रत्यक्ष धूमके देखनेसे जिस प्रकार अप्रत्यक्ष वह्निका अनुमान होता है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष शब्द सुननेसे अप्रत्यक्ष पदार्थ का अनुमान होता है। लिङ्गदर्शनसे हो या शब्दश्रवणसे हो,

अप्रत्यक्ष पदार्थका ज्ञानमात्र ही अनुमिति है अतः नैयायिक सम्मत उपमान भी वैशेषिकके मतमें अनुमान प्रमाणके अन्तर्गत है। इस प्रकार पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे जीवको निःश्रेयस लाभ होता है।

(योगदर्शन ।)

योगदर्शनके प्रवर्त्तक श्रीभगवान् पतञ्जलि हैं। इसमें कुल १६५ सूत्र हैं, जिनपर श्रीभगवान् वेदव्यासने भाष्य किया है। योग-दर्शनके चार पाद हैं, यथा-समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद। प्रथमपादमें योगका उद्देश्य और लक्षण, वृत्तिका लक्षण, योगका उपाय, फल और प्रकारभेद वर्णित हुआ है। दूसरे पादमें क्रियायोग, क्लेश कर्म विपाक और उसका दुःख, हेय हेयहेतु हान और हानोपायरूपी व्यूहचतुष्टयका वर्णन किया गया है। तृतीय पादमें योगका अन्तरङ्ग परिणाम, संयमके द्वारा प्राप्त विभूति और विवेकसे उत्पन्न ज्ञानका प्रतिपादन किया गया है। चतुर्थ पादमें मुक्तिके योग्य चित्त, परलोकसिद्धि, बाह्यार्थसद्भावसिद्धि, चित्तातिरिक्त आत्माकी सिद्धि, धर्ममेघसमाधि, जीवन्मुक्ति और विदेह कैवल्यका वर्णन है। पातञ्जलदर्शनका और एक नाम सांख्यप्रवचन है। इसका कारण यह है कि, श्रीभगवान् पतञ्जलिने सांख्यदर्शनके प्रवर्त्तक महर्षि कपिलके दार्शनिक सिद्धान्तोंको ग्रहण किया है। सांख्योक्त पञ्चविंशति तत्त्व अर्थात् पुरुष, प्रकृति महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा, एकादश इन्द्रिय और पञ्च महाभूत इसमें स्वीकृत हुए हैं। परन्तु पतञ्जलिजीने इसके सिवाय और एक तत्त्वका प्रचार किया है, वह तत्त्व ईश्वर है। ईश्वर सांख्योक्त पुरुष नहीं है, परन्तु पुरुषविशेष है। पातञ्जलमें सूत्र है कि:—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।
स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

जो विशेष पुरुष क्लेश कर्म्म कर्मफल और संस्कारके सम्बन्धसे रहित हैं, वही ईश्वर हैं। उनमें चरम ज्ञानका बीज है। कालके द्वारा अवच्छिन्न न होनेसे वे ब्रह्मादिके भी गुरु हैं। अत्याग्य पुरुष अर्थात् सांख्यकथित बहुपुरुष इस दर्शनकथित ईश्वरकी तरह नहीं हैं। उनमें क्लेश कर्म्म कर्मफल और संस्कारका सम्बन्ध है। क्लेशादि भोगके हेतु हैं। ईश्वरमें क्लेशादिके न रहनेसे उनका भोग नहीं है। क्लेशादि अन्तःकरणके धर्म्म होने पर भी सान्निध्यवशात् पुरुषमें भी उपचरित होते हैं। पुरुष उनके भोक्ता हैं। गीताजीमें कहा है कि:—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।

पुरुष प्रकृतिसे युक्त होकर प्रकृतिके विषयोंका भोग करता है। जिस प्रकार युद्धका जय वा पराजय स्वामी (राजा) पर ही आरोपित होता है उसी प्रकार बुद्धिस्थ भोगादि पुरुषमें उपचरित होते हैं।

क्लेश पांच प्रकारके हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश। मिथ्या ज्ञानको अविद्या कहते हैं। योगदर्शनमें कहा है कि:—

अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखाऽऽत्मख्यातिरविद्या।

अनित्य वस्तुमें नित्यत्वज्ञान, अशुचिशरीरादिकोंमें शुचित्वज्ञान, दुःखमें सुखज्ञान और अनात्मा देहादिकोंमें आत्मज्ञान अविद्या है। संसारके सब सुखोंके साथ दुःख मिला हुआ है। इस लिये अज्ञानिओंके परिणाम-ताप-संस्कार-दुःखमिश्रित सांसारिक सुखमें मत्त होने पर भी विवेकी लोग उसे दुःख ही समझते हैं। बुद्धि और पुरुष वास्तवमें परस्पर भिन्न होने पर भी दोनोंकी एकरूपताज्ञानका नाम अस्मिता है। राग द्वेषके विषयमें योगदर्शनमें लिखा है कि:— सुखानुशायी रागः।

दुःखानुशायी द्वेषः।

सुखके विषयमें अभिलाषका नाम राग और दुःखसाधनमें चित्तके विरागका नाम द्वेष है। अभिनिवेश अर्थात् मृत्युभय जो कि प्राक्तन संस्कारके कारण विद्वान अविद्वान सभीको होता है। यही पांच प्रकारके क्लेश हैं। इसके द्वारा संसारमें जीवको दुःख मिलता है। योगदर्शन इसी दुःखसे मुक्त करके पुरुषको स्वरूपमें प्रतिष्ठित करता है। पातञ्जलदर्शनके मतमें तत्त्व २५ पच्चीस नहीं हैं २६ छब्बीस हैं, परन्तु इन तत्त्वोंकी आलोचना योगदर्शनका मुख्य विषय नहीं है। योग ही इस दर्शनका मुख्य विषय है। योगका स्वरूप, साधन, गौणफल विभूति और मुख्य फल कैवल्यका तत्त्व-निर्णय, इसका प्रतिपाद्य विषय है।

योगशास्त्र चिकित्साशास्त्रकी तरह चार पर्वोंमें विभक्त है। जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र रोग, निदान, आरोग्य व औषध इन चार अध्यायोंमें विभक्त है, उसी प्रकार योगशास्त्रके भी चार पर्व हैं। यथा—हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय। अन्यान्यदर्शनोंकी तरह पातञ्जल दर्शनके मतमें भी संसार दुःखमय है अतः हेय है। सूत्रमें कहा है:—

दुःखमेव सर्व्वं विवेकिनः।

विवेकीके अर्थ सब संसारही दुःखमय है। हेयरूपी संसारका हेतु, हान और हानोपायके लक्षण सूत्रोंमें निम्नलिखित रीतिसे वर्णित हैं—

दृग्दृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।

इस हेय संसारका निदान, अर्थात् हेतु प्रकृति-पुरुषका संयोग है। परन्तु प्रकृतिपुरुषसंयोगजन्य इस संसारका उच्छेद होना सम्भव है, इसीको हान कहते हैं। इस हानका उपाय प्रकृति

पुरुषका यथार्थतः भेद ज्ञान है। इस प्रकार प्रकृति पुरुषका भेद-ज्ञान ठीक ठीक होनेसे मोक्ष होता है। सांख्यदर्शनके मतमें २५ तत्वोंके ज्ञानसे यह ज्ञान होता है, परन्तु योगदर्शनके मतमें योगके द्वाराही एतादश विवेक हो सकता है। योगका लक्षण यह है:—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका नाम योग है। चित्तकी पांच अवस्था या भूमि हैं। यथाः-मूढ, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनमें प्रथम तीन अवस्था योगावस्थाके नीचे व्युत्थान-दशामें होती हैं। तमोगुणके आधिक्यसे प्रमाद या मोहके द्वारा आक्रान्त अवस्था ही मूढ है। रजोगुणके आधिक्यसे चञ्चलावस्था क्षिप्त है। और कभी कभी सत्त्वगुणके उदय होनेसे चित्तकी जो वृत्ति-शून्य निश्चल अवस्था होती है उसका नाम विक्षिप्त है। यह अवस्था क्षणिक होती है। इन तीनोंके अतिरिक्त एकाग्र दशामें योग द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध होना प्रारम्भ होता है। इस एकाग्रवृत्तिसे परे निरुद्धवृत्तिका उदय होता है वही पांचवीं वृत्ति है और इसी वृत्तिमें योगकी प्राप्ति होती है। चित्तकी पञ्चावयववृत्ति क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेदसे द्विधा विभक्त है। साधारणतः राजस तामस वृत्ति क्लिष्ट और सात्त्विक वृत्ति अक्लिष्ट है। इस प्रकार द्विधा भिन्न वृत्ति पञ्चावयव है। यथाः—प्रमाण, विपर्य्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। प्रमाण तीन प्रकारका है:-प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। विपर्य्यय अर्थात् मिथ्याज्ञान, यथा-शुक्तिमें रजतज्ञान। वस्तु न होनेपर भी शब्दज्ञानके कारण जो वृत्ति है उसे विकल्प कहते हैं। यथा-आकाशकुसुम या शशशृङ्ग। सुषुप्तिकालीन चित्तवृत्तिका नाम निद्रा है। निद्राके अनन्तरनिद्राकालका सुख स्मरण रहता है इस लिये निद्राको भी वृत्ति कहा गया है। चित्तमें रहे हुए विषयका पीछेसे स्मरण करना स्मृति है। इन पांचोंसे अतिरिक्त और वृत्ति नहीं

है। चित्तके साथ पुरुषका संयोग रहने से वे सब वृत्तियाँ पुरुषमें उपचरित होती हैं। योगके द्वारा इनके निरोध होनेसे इनका प्रतिबिम्ब पुरुष पर नहीं पड़ता है। उस समय क्या अवस्था होती है सो श्रीभगवान् पतञ्जलिजी वर्णन करते हैं कि:—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

तब पुरुष अपने स्वरूपमें अवस्थान करते हैं। इस प्रकार से योगकी प्राप्ति द्वारा स्वरूप-साक्षात्कार होने से कैवल्यकी प्राप्ति होती है। यही योगका फल है। इसी योग फलके प्राप्तिके उपायके विषयमें पूज्यपाद महर्षिने यह कहा है कि:—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

चित्तवृत्तिके निरोधका उपाय अभ्यास और वैराग्य है। स्वरूपमें स्थित होनेके लिये यत्न करना अभ्यास है। दृष्ट तथा अदृष्ट विषयोंमें वितृष्णाका नाम वैराग्य है। अभ्यास और वैराग्य द्वारा चित्तकी एकाग्रता पूर्ण होकर पश्चात् निरुद्ध दशा प्राप्त होती है। इसीका नाम योग या समाधि है। समाधिकी भी दो अवस्थायें हैं, यथा- सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। असम्प्रज्ञातके भी चार भेद हैं, यथा— वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता। अब तक स्थूल सूक्ष्म जगत्‌के साथ, उससे परे जो पुरुष उसका सम्बन्ध रखकर वृत्ति निरोध होता है वह दशा वितर्ककी है। जगत्‌को छोड़कर केवल पुरुषसत्ताके अवलम्बनपूर्वक निरोधका नाम विचार है। पुरुषमें प्रतिष्ठित आनन्दभाव में चित्तनिरोध करके उसकी ही उपभोगदशा आनन्दपदवाच्य है। उससे भी परे केवल अपने अस्तित्वका अनुभव करानेवाली निरोध दशाका नाम अस्मिता है। सविकल्प या सम्प्रज्ञात समाधिकी इन चारों दशामें ही प्रकृतिका सूक्ष्म सम्बन्ध रहता है। इससे परे असम्प्रज्ञात या निर्विकल्प समाधिकी भूमि है जिसमें प्रकृतिका सम्बन्ध बिलकुल नहीं रहता है। इस भूमिको प्राप्त होकर समा-

धिस्थित होनेपर ही योगदर्शनके सिद्धान्तानुसार द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान होता है और यही योगदर्शनका लाभ है।

(साङ्ख्यदर्शन)

सांख्यदर्शनके प्रवर्त्तक महर्षि कपिल हैं। तत्त्वमास सांख्य-प्रवचन आदि इनके कई ग्रन्थ मिलते हैं। ईश्वरकृष्णकी सांख्य-कारिका भी आजकलके प्रामाणिक ग्रन्थोंमें है। सांख्यदर्शनका कौन ग्रन्थ प्राचीन है इस विषयमें मतभेद होने पर भी विज्ञानभिक्षुने सांख्यप्रवचनका ही प्रामाण्य निरूपण किया है। सांख्य-प्रवचनके सूत्र छः अध्यायोंमें विभक्त हैं। प्रथम अध्यायमें हेय, हेयहेतु, हान और हानहेतुका निरूपण किया गया है। दुःख हेय है, प्रकृतिपुरुषका अविवेक अर्थात् भ्रमज्ञान दुःखका हेतु है, दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति ही हान है और विवेक-ज्ञान अर्थात् प्रकृति व पुरुषका पार्थक्यज्ञान हानहेतु अर्थात् अत्यन्त दुःखनिवृत्तिका हेतु है। यही सब विषय प्रथम अध्यायमें वर्णित किया गया है। द्वितीय अध्यायमें प्रकृतिका सूक्ष्म कारण और तृतीय अध्यायमें स्थूल कार्य्य, लिङ्ग शरीर, स्थूल शरीर, अपर वैराग्य और वैराग्यका तत्त्व निरूपण किया गया है। चतुर्थाध्यायमें शास्त्रप्रसिद्ध बहुतसी आख्यायिकाओंका उल्लेख करके विवेकज्ञानका उपदेश और पञ्चम अध्यायमें परपक्षका खण्डन किया गया है। षष्ठ अध्यायमें शास्त्रके मुख्य विषयोंकी व्याख्या और शास्त्रार्थका उपसंहार किया गया है।

पूर्वकथित दर्शनोंकी तरह सांख्यदर्शनका भी प्रतिपाद्य दुःख-निवृत्ति है। संसार दुःखमय है, पुरुषार्थके द्वारा यह दुःख दूर होता, अतः यही परम पुरुषार्थ है, शास्त्रके द्वारा मनुष्योंका दुःखनाश और उनको मुक्तिलाभ होता है, इसलिये सांख्यसूत्रमें लिखा है कि:—

ज्ञानान्मुक्तिः।

ज्ञानसे मुक्ति होती है। वह ज्ञान प्रकृति और पुरुषका पार्थक्य-ज्ञान है। महर्षि कपिलदेवजीने कहा है कि:—

कुत्रापि कोऽपि सुखीति तदपि दुःखशबल-
मिति दुःखपक्षे निक्षिपन्ति विवेचकाः।

संसारमें सुख बिलकुल नहीं है। संसारमें जो कुछ सुख है, वह भी दुःखसे मिश्रित होनेके कारण दुःखरूपी है ऐसा विवेचक लोग निश्चय करते हैं। सांख्यदर्शनमें इस दुःखको तीन प्रकारसे विभक्त किया है। यथा-आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। आध्यात्मिक दुःख दो प्रकारके हैं, शारीरिक और मानसिक। रोगादिजनित दुःख शारीरिक और काम, क्रोध, लोभ, ईर्षा, शोक आदि-जन्य दुःख मानसिक है। देवतासे अर्थात् वात, वृष्टि, वज्रपात आदिसे उत्पन्न दुःख आधिदैविक है। मनुष्य पशु पक्षी आदि भूतोंसे उत्पन्न दुःख आधिभौतिक है। जबतक शरीर है तबतक ये तीन दुःख भोगने ही पड़ेंगे। दुःख उपादेय नहीं हैं, हेय हैं। उनका हान अर्थात् निवृत्ति सकल जीवोंको अभीप्सित है और क्षणिक निवृत्तिमें विशेष लाभ नहीं है। अतः दुःखनिवृत्ति आत्यन्तिक होना चाहिये। यही जीवका पुरुषार्थ है। इसलिये सांख्यकारने सूत्र कहा है कि:—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।

त्रिविध दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति ही अत्यन्त पुरुषार्थ है। लौकिक उपायके द्वारा त्रिविध दुःखकी निवृत्ति होनेपर भी अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि देखनेमें आता है कि, औषधिसेवनके द्वारा शारीरिक दुःखकी और इष्टसाधनके द्वारा मानसिक दुःखकी निवृत्ति होनेपर भी उसका फल क्षणिक होता है, स्थायी नहीं होता। अतः लौकिक उपायसे दुःखनिवृत्ति नहीं हो सकी। दुःखनिवृत्तिके लिये वैदिक उपाय है। वेदोक्त यज्ञादिके अनुष्ठानसे जीवको

सुखमय स्वर्गलाभ हो सकता है, परन्तु वह भी उपाय समीचीन नहीं है, क्योंकि कर्म्मके तारतम्यानुसार स्वर्गसुखमें भी तारतम्य होता है, इससे स्वर्गवासियोंमें ताप-दुःख होना अवश्यम्भावी है। द्वितीयतः पुण्यकर्म्मके क्षय होनेसे स्वर्गवासियोंको पुनः दुःखमय संसारमें लौट आना पड़ता है, इसलिये सांख्याचार्य्यने कहा है कि दुःखनिवृत्तिके लिये लौकिक या वैदिक कोई भी उपाय ठीक नहीं है।

सांख्यदर्शनकी सम्मतिमें दुःखनिवृत्तिका ऐकान्तिक उपाय प्रकृति और पुरुषका विवेक है। सांख्यकारिकामें कहा है कि:—

तद्विपरीतः श्रेयान्व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।

प्रकृति और पुरुषका भेद साक्षात्कार ही श्रेष्ठतर उपाय है, वह व्यक्त अर्थात् विकृति, अव्यक्त अर्थात् प्रकृति और ज्ञ अर्थात् पुरुष, इन तीनोंके विशेष ज्ञानसे उत्पन्न होता है। सांख्यकारिका में कहा है कि:—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्य्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥

तत्त्वोंके पुनः पुनः अभ्यास करनेसे भ्रमरहित विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है, जिससे पुरुषको मालूम होता है कि,यह प्रकृतिका कर्त्ता भोक्ता कुछ भी नहीं है, उससे बिलकुल अलग निष्क्रिय ज्ञानरूप और साक्षीरूप है। इस दशामें सुख दुःख दोनोंका ही तिरोधान होता है। सांख्यसूत्रमें कहा है कि:—

नोभयञ्च तत्त्वाख्याने।

तत्वोंके साक्षात्कार होनेसे सुख दुःख दोनों ही नहीं रहता है। ये तत्त्व विकारसहित प्रकृति और पुरुषको लेकर २५ पचीस हैं। सांख्यसूत्रमें कहा है कि:—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः,
प्रकृतेर्महान्, महतोऽहङ्कारः, अहङ्कारात्

पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः
स्थूलभूतानि, पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः।

तत्त्वसमासके सूत्रमें लिखा है किः—

अष्टौ प्रकृतयः षोड़श विकाराः पुरुषः।

सत्त्व रजः तमः इन तीन गुणोंकी साम्यावस्था मूल प्रकृति है, उसका विकार महत्तत्त्व, महत्तत्त्वका विकार अहङ्कारतत्त्व, अहङ्कार-तत्त्वका विकार पञ्चतन्मात्रा और एकादश इन्द्रियाँ, पञ्चतन्मात्राका विकार पञ्चमहाभूत, एवं पुरुष, यही पञ्चविंशति तत्त्व हैं। तत्त्वसमासकी भाषामें अष्ट प्रकृति, षोड़श विकार और पुरुष, यही पञ्चविंशति तत्त्व है। प्रकृतिके लक्षणके विषयमें कहा गया है किः—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं,
तथा च नित्यं रसगन्धवर्जितम्।
अनादिमध्यं महतः परं ध्रुवं,
प्रधानमेतत्प्रवदन्ति सूरयः॥

प्रकृति नित्य, अव्यय, इन्द्रियों और महत्तत्त्वके परे, आदिमध्य-हीन और ध्रुव है।

सांख्यसूत्रमें लिखा है किः—

प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादु-
ष्ट्रकुंकुमवहनवत्।
अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितम्प्रधानस्य।
कर्म्मवद्दृष्टेर्वा कालादेः।

प्रकृति स्वयं ही सृष्टि करती है, वह सृष्टि अपने लिये नहीं करती है, परन्तु उष्ट्रके कुंकुमवहनकी तरह पुरुषके भोग और मोक्षके साधनके लिये करती है। जिस प्रकार वत्सकी पुष्टिके लिये अचेतन दुग्धकी स्वतः प्रवृत्ति होती है, अथवा एक ऋतुके बाद एक ऋतु

स्वतः ही आता है, उसी प्रकार अचेतन प्रकृति भी पुरुषके भोग और मोक्षके लिये स्वतः ही परिणामको प्राप्त होती है।

प्रकृतिका इस प्रकार परिणाम चेतन पुरुषके सान्निध्यमात्रसे सम्पन्न होता है। सांख्यदर्शनमें कहा है कि:—

तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वम्मणिवत्।

चुम्बकके कुछ न करनेपर भी केवल सामने रहनेपर जिस प्रकार लोहेमें प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार निष्क्रिय पुरुषके सान्निध्यमात्रसे ही प्रकृतिका महदादिरूपेण परिणाम होता है। प्रकृतिकी साम्यावस्था नष्ट होनेपर जो पहला परिणाम होता है उसको महत्तत्त्व कहते हैं। महत्तत्त्वका विकार अहंतत्त्व है। निर्विशेष सूक्ष्म पञ्चभूतको पञ्चतन्मात्रा कहते हैं। अहंकारतत्त्वके विकारसे यथाक्रम पञ्चतन्मात्रा और एकादश इन्द्रिय उत्पन्न होते हैं। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और मन, यह एकादश इन्द्रिय है। अविशेष पञ्चतन्मात्रासे विशेष पञ्च स्थूलभूत, क्षिति अप् तेज मरुद् व्योम उत्पन्न होते हैं।

सांख्यके मतमें जगत् त्रिगुणात्मक है, क्योंकि प्रकृति त्रिगुणमयी है। प्रत्येक विषयमें सुख दुःख मोहात्मक तीन गुणके अधिष्ठान रहनेसे एक ही विषय अवस्थाभेदसे कहीं सुखकर, कहीं दुःखकर और कहीं मोहकर होता है। यथा—एक ही स्त्री प्रियजनके लिये सुखकी हेतु, सपत्नीके लिये दुःखकी हेतु और निराश प्रेमीके लिये मोहकी हेतु होती है। सांख्यका २५ वाँ तत्त्व पुरुष है। सांख्यके मतमें पुरुष असंग, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव है। प्रकृति जड़ और पुरुष चेतन, प्रकृति परिणामिनी और पुरुष निर्विकार, प्रकृति गुणमयी और पुरुष निर्गुण, प्रकृति दृश्य और पुरुष द्रष्टा, प्रकृति भोग्य और पुरुष भोक्ता कूटस्थ असंग अकर्ता एवं साक्षीमात्र है। सांख्यके मतमें प्रकृति एक, परन्तु पुरुष बहु हैं। सांख्यसूत्रमें कहा है कि:—

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्।

बहुत पुरुष स्वीकार नहीं करनेसे जन्मादिकी व्यवस्था नहीं होती है। सांख्यकारिकामें कहा है कि:—

जन्ममरणकरणानाम्प्रतिनियमादयुगप-
त्प्रवृत्तेश्च पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्य्ययाच्च।

सकल जीवोंका एक ही साथ जन्म मृत्यु वा इन्द्रियवैकल्य नहीं होता है, एक ही कालमें सबकी प्रवृत्ति देखनेमें नहीं आती है, किसी पुरुषमें कोई गुण प्रबल है, किसी पुरुषमें और कोई गुण प्रबल है, इसलिये पुरुष बहुत होने चाहिये। इस प्रकारकी युक्तियोंके द्वारा सांख्यकारने बहु पुरुषवाद सिद्ध किया है। सांख्यज्ञान-भूमिमें आरोहण करनेपर साधककी भी ऐसी उपलब्धि होने लगती है। सांख्य ज्ञानभूमिके अनुसार जो स्वरूपकी उपलब्धि होती है, वह व्यष्टि शरीरावच्छिन्न कूटस्थ चैतन्यकी उपलब्धि है। उस समय अद्वितीय व्यापक चैतन्यके साक्षात्कार न होनेसे और प्रतिपिण्डमें भिन्न भिन्न कूटस्थ आत्माका साक्षात्कार होनेसे बहु पुरुषवाद सांख्यज्ञान-भूमिके अनुसार ठीक है। सांख्यके मतमें सृष्टि दशामें प्रकृति और पुरुष परस्पर संयुक्त रहते हैं, इसी कारण पुरुषका गुण प्रकृति और प्रकृतिका गुण पुरुषमें उपचरित होता है। सांख्यकारिकामें लिखा है कि:—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥

जिस प्रकार अन्ध और पङ्गुकी अलग अलग होकर किसी कार्य करनेकी शक्ति नहीं है, परन्तु दोनों मिलनेपर कार्यसम्पन्न होता है। अन्धके पंगुको कन्धेपर लेनेसे दर्शनशक्तिसम्पन्न पंगु और चलनेवाला अन्ध, दोनों मिलकर अच्छे मनुष्यकी तरह कार्य्य कर

सकते हैं, ठीक उसी प्रकार निष्क्रिय तथा चेतन पुरुष और सक्रिय तथा अचेतन प्रकृति, दोनोंके संयोगसे सृष्टिक्रिया होती है। सृष्टिका उद्देश्य, पुरुषका भोग और मोक्षसाधन है। जिस प्रकार कार्य्य-सिद्धि हो जानेके बाद अन्ध और पंगु अलग अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार विवेकके द्वारा पुरुष प्रकृतिको देखकर अपने नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, असङ्ग अकर्त्ता और निष्क्रिय स्वभावको समझकर प्रकृति-से अलग हो जाता है। यही सांख्य शास्त्रानुसार पुरुषकी मुक्ति है। गीतामें कहा है कि:—

प्रकृत्यैव च कर्म्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति॥

प्रकृतिके द्वारा ही समस्त कार्य होता है, पुरुष निष्क्रिय है और पुरुष अकर्त्ता है, इस प्रकार जो देखता है वही तत्त्वदर्शी है। तत्त्व-दर्शनसे जीवको कैवल्य प्राप्ति और उसके त्रिविध दुःखका अत्यन्त नाश होता है।

सांख्यदर्शनमें उसकी ज्ञानभूमिके अनुसार ईश्वरके सिद्ध नहीं होनेपर भी अलौकिक प्रत्यक्ष विज्ञानके द्वारा ईश्वरकी सिद्धि सर्वथा की गई है। सांख्य दर्शनके विज्ञानके अनुसार ईश्वर सिद्धिकी आव-श्यकता न होनेपर भी ईश्वरकी सिद्धि प्रकारान्तरसे करनेसे सांख्य-दर्शनकी आस्तिकता और भी बढ़ गई है, इसमें सन्देह नहीं। किसी किसी भाष्यकारने इसे समझा नहीं है। इस तत्त्वको न जानकर बहुत लोग इस दर्शनको निरीश्वर सांख्य कहा करते हैं, वे सर्वथा भ्रान्त हैं। इसका पूरा तत्त्व मूलदर्शनमें द्रष्टव्य है।

(कर्ममीमांसा दर्शन।)

वेदका प्रथम काण्ड कर्मकाण्ड है, उस कर्मकाण्डकी मीमांसा करनेवाले दर्शनशास्त्रको कर्ममीमांसा दर्शन कहते हैं। कर्म्म साधारण और विशेषरूपसे दो भागमें विभक्त होनेके कारण कर्म्म

मीमांसाके ग्रन्थ दो हैं। एकके प्रधानाचार्य्य महर्षि भरद्वाज और दूसरेके प्रधानाचार्य्य महर्षि जैमिनी हैं। प्रथम जैमिनीकृत दर्शनका वर्णन किया जाता है।

वेदके कर्मकाण्डका प्रतिपादक कर्म्ममीमांसा दर्शन है। इसको पूर्वमीमांसा भी कहते हैं। महर्षि जैमिनी इसके प्रवर्त्तक हैं। इसमें बारह अध्याय हैं। यज्ञ, अग्निहोत्र, दान आदि विषय इसमें वर्णित हैं।

इस कर्म्ममीमांसा दर्शनके मतमें वेदका कर्म्मकाण्ड ही सार्थक है, अन्य काण्डोंका कोई भी प्रयोजन नहीं है। इस मीमांसामें कहा है कि:—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।

कर्म ही वेदका प्रतिपाद्य होनेसे कर्म्मके सिवाय वेदका और अंश वृथा है। वेदमें जो तत्त्वज्ञानका उपदेश किया गया है, उसका उद्देश्य, देहसे भिन्न आत्माका अस्तित्व प्रमाण करके जीवको अदृष्ट स्वर्ग आदिके साधनरूप यागयज्ञमें प्रवृत्त करना है, ऐसा जैमिनी-मीमांसाका सिद्धान्त है।

इस मीमांसा दर्शनके मतमें वेद नित्य अभ्रान्त और अपौरुषेय है। वेदके रचयिता और कोई नहीं हैं। ऋषिलोग मन्त्रोंके द्रष्टा-मात्र हैं। वेदका प्रामाण्य स्वतःसिद्ध है। उसमें जीवोंके कल्याणके लिये यज्ञधर्मका प्रतिपादन किया गया है। यथाः—

यजेत स्वर्गकामः।

स्वर्गकी कामनासे यज्ञ करना चाहिये। स्वर्गसुखका लक्षण शास्त्रोंमें कहा है कि:—

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतञ्च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्।

जिस सुखके साथ दुःख मिला हुआ नहीं है, जिसके परिणाममें

दुःख नहीं होता है और जो इच्छामात्रसे ही प्राप्त होता है, स्वर्गमें वही सुख मिलता है। यज्ञ करनेसे इस प्रकारका स्वर्गसुख मिलता है, क्योंकि यज्ञका फल अलौकिक है। वेद और शास्त्रोंमें कहा है कि:—

यज्ञतेजातमपूर्व्वम्।

अपाम सोमं अमृता अभूम।

अक्षय्यं ह व चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति।

सर्व्वान् लोकान् जयति, मृत्युं तरति, पाप्मानं तरति, ब्रह्महत्यां तरति, योऽश्वमेधेन यजते।

यज्ञ द्वारा अमृतत्व लाभ होता है। हम लोग यज्ञीय सोमपान करके अमर हो गये हैं। चातुर्मास्य याग करनेवालेको अक्षय्य पुण्यका लाभ होता है। अश्वमेध यज्ञ करनेसे समस्त लोकोंको जय करते हैं एवं मृत्यु, पाप और ब्रह्महत्यासे उत्तीर्ण होते हैं। इत्यादि वैदिक सिद्धान्त इस पूर्वमीमांसाका प्रतिपाद्य है।

इस मीमांसाके मतमें यज्ञ ही मुख्य है। इन्द्रादि देवताओंके नामसे यज्ञ करनेपर भी वे गौण हैं, प्रयोजक नहीं हैं। इस मीमांसामें लिखा है कि:—

देवता वा प्रयोजयेदतिथिवद्भोजनस्य तदर्थत्वात्।

अपि वा शब्दपूर्व्वत्वाद्यज्ञकर्म्म प्रधानं स्याद्गुणत्वे देवताश्रुतिः।

इस मीमांसाके सिद्धान्तानुसार देवताकी पृथक् सत्ता नहीं है। मन्त्रही देवता हैं। महर्षि जैमिनीके मतमें यज्ञ ही मोक्षफलका देनेवाला है, परन्तु क्रिया काम व उच्चारण ठीक ठीक न होनेसे यज्ञ द्वारा अभीष्ट लाभ नहीं होता है। इस दर्शनमें ईश्वरका नाम नहीं है, परन्तुः—

ब्रह्मापीति चेत्।

इस सूत्रमें ब्रह्मका अस्तित्व स्वीकार किया गया है। महर्षि जैमिनिने वेदको अपौरुषेय कहा है, परन्तु ईश्वरवाक्य नहीं कहा है। उनके मतमें वेदका कर्त्ता कोई नहीं हो सकता है। शब्दका नित्यत्व और एकत्व ही वेदका मूल है, इसलिये उक्त महर्षिजीने कई एक सूत्रोंमें शब्दकी नित्यत्व सिद्धि की है।

यथा—उच्चारणमात्रसे ही शब्दका अर्थ ग्रहण होता है, शब्द नष्ट नहीं होता है, इसलिये नित्य है, सर्व्वदा सब जगहपर एक शब्दका एक ही अर्थ होता है इसलिये भी शब्द एक और नित्य है, शब्दका लय और वृद्धि नहीं है क्योंकि एक ही शब्द बार बार उच्चारित होनेसे भी उसके द्वारा वस्तुकी संख्यावृद्धि नहीं होती है और शब्द नष्ट होनेका भी कोई कारण देखनेमें नहीं आता है। ये ही नित्य और अपौरुषेय शब्द वेद हैं एवं वेदविहित कर्म्मका अनुष्ठान ही मोक्षलाभका उपाय है।

जिस प्रकार सांख्यदर्शनमें जो पच्चीस तत्त्वोंका निर्णय करते समय ईश्वरतत्त्वकी आवश्यकता तत्त्व-ज्ञान-लाभ करनेके अर्थ न समझकर ईश्वरतत्त्वका प्राधान्य नहीं दिखाया गया है, परन्तु अपने मतके अनुसार ईश्वरकी सिद्धि न होनेपर भी वेदोक्त विज्ञानकी आस्तिकताके समर्थनके अर्थ अलौकिक प्रत्यक्षके उदाहरणमें ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार किया गया है; उसी प्रकार महर्षि जैमिनिकृत वैदिक कर्म्मकाण्डके मीमांसादर्शनमें यज्ञकी प्रधानता प्रतिपादन होनेसे यज्ञका महत्त्व स्थापन करनेके अर्थ देवताओंको गौण करके माना गया है और ईश्वरके विषयमें भी अधिक नहीं कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि, यदि दैवीमीमांसादर्शनके अनुरूप ईश्वर-भक्ति और ऋषि देवता तथा पितरोंकी शक्तिकी अधिकता मानी जाती तो वेदोक्त यज्ञकी महिमा घट जाती। इस दर्शनमें वेदोक्त यज्ञोंको ही मुख्य माना गया है। इस दर्शनका प्रधान सिद्धान्त

यह है कि, वेदोक्त कर्म्मकाण्ड साधकको सब कुछ फल दे सके हैं। इस दर्शनका सिद्धान्त यह है कि, साधक वेदोक्त कर्म्म करता हुआ स्वर्गादि सब उन्नत लोकोंको सुगमतासे प्राप्त कर सक्ता है और मुक्ति भी प्राप्त करसक्ता है। इस प्रकार वेदोक्त कर्म्मोंकी पूर्ण शक्ति प्रतिपादन करनेसे, अगत्या इस दर्शनशास्त्रको ईश्वर और उसके अंश देवताओंका गौणत्व दिखाना पड़ा है एवं इसी कारण इस दर्शनशास्त्रमें सकाम कर्म्मकाण्डको ही मुख्यता दी है। इस प्रकारसे महर्षि कपिलकृत सांख्यदर्शन और महर्षि जैमिनिकृत कर्म्म-मीमांसादर्शनोंमें ईश्वरको परम्परा सम्बन्धसे माननेसे कुछ दूषण नहीं है, किन्तु अपने विज्ञानके बाहर स्थित ईश्वरको प्रकारान्तरसे माननेसे उक्त दोनों दर्शनोंका भूषण ही है।

कर्म्मराज्यके साधारण विस्तार, साधारण गति और साधारण शक्तिके विज्ञानोंका प्रतिपादक महर्षि भरद्वाजकृत कर्म्ममीमांसादर्शन है। यह दर्शन ग्रन्थ जैमिनीदर्शन ग्रन्थके अनुरूप एकदेशी न होनेके कारण इसमें अनेक प्रकारके विज्ञानोंका रहस्य वर्णन किया गया है। यह दर्शनशास्त्र चार पादमें विभक्त है, इस दर्शन शास्त्रके बिना पाठ किये कर्म्मका अनादि अनन्त स्वरूप और कर्म्मके विस्तृत रूप समझमें नहीं आसकते।

महर्षि भरद्वाजकृत यह मीमांसादर्शन शास्त्र साधारण कर्म्मका रहस्य प्रतिपादक है, इसी कारण इसके प्रथम पादमें धर्म्मका लक्षण, धर्म्मके अङ्ग, धर्म्मके उपाङ्ग, धर्म्म और अधर्म्मकी शक्ति, ईश्वरका स्वरूप, ईश्वर ही धर्म्मके अधिष्ठाता हैं इसका विज्ञान, धर्म्मके देवताओंकी अनन्तता, पुरुषधर्म्म और नारीधर्म्मके रहस्य, आपद्धर्म्मका लक्षण, वर्णधर्म्मका रहस्य, आश्रमधर्म्मका रहस्य, प्रवृत्ति और निवृत्तिका वर्णन, सतीधर्म्मका वर्णन, प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्म्मका वर्णन इत्यादि अनेक आवश्यकीय धर्म्मरहस्यविज्ञान

वर्णित हैं। इस पादका नाम धर्मपाद है। और इसके प्रथम दो सूत्र ये हैं:—

अथाऽतो धर्म्मजिज्ञासा।

धारणाद्धर्म्मः।

अब धर्म्म-मीमांसाका वर्णन किया जाता है। धारण करता है इस कारण धर्म्म है।

दूसरे पादका नाम संस्कार पाद है। इस पादका प्रथम सूत्र यह है कि:—

कर्म्मबीजं संस्कारः।

कर्म्मके बीजको संस्कार कहते हैं। इस दूसरे पादमें संस्कारका लक्षण, संस्कारका विज्ञान, सृष्टिसे संस्कारका सम्बन्ध, संस्कारके दो प्रधान भेद, त्रिविध शुद्धिका क्रम, संस्कारका कलाभेद, वेदोक्त षोडशसंस्कारका विज्ञान, उद्भिज्जादि योनियोंमें पञ्च कोषके क्रम विकाशका विज्ञान, मनुष्यमें पञ्च कोषोंकी पूर्णताका विज्ञान, संस्कारशुद्धिसे मुक्तिका सम्बन्ध, रज और वीर्यकी शुद्धिका महत्व और उसके साथ वर्णधर्मके सम्बन्धका विज्ञान, मुक्तिप्राप्तिमें वर्णधर्म और आश्रमधर्मकी सहायताका विज्ञान, आर्यजातिका लक्षण, आर्यजातिसे अनार्यजातिकी पृथकता, जातिधर्मरक्षामें नारीका प्राधान्य, जीवोत्पत्ति-प्रवाहका विज्ञान, संस्कारकी क्रम-शुद्धिसे जीवकी क्रमोन्नतिका विज्ञान, स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरका विज्ञान, जन्मान्तरवादका विज्ञान, जन्मान्तरमें जाने-वाले आतिवाहिक देहका विज्ञान, स्वर्ग नरकका विज्ञान, प्रेतत्वका विज्ञान, संस्कार शुद्धिके साथ अज्ञानके नाशका सम्बन्ध, संस्कारशुद्धिसे वासनानाशका विज्ञान, इत्यादि अनेक विषय वर्णित हैं।

तीसरे

तीसरे पादका नाम क्रियापद है। इस पादके प्रथम दो सूत्र ये हैं कि:—

स्पन्दः क्रिया।

संस्कारक्रिये बीजांकुरवत्।

प्राकृतिक हिल्लोल या कम्पनको क्रिया कहते हैं। संस्कार और क्रिया बीज और अंकुरवत् हैं। इस पादमें कर्मका स्वरूप, कर्मका वैज्ञानिक रहस्य, संस्कारके साथ कर्मका सम्बन्ध, कर्मके साथ सृष्टिका एकत्व सम्बन्ध, संस्कार अंकित होनेके स्थान, उन स्थानोंका स्वरूप, संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि होनेका विज्ञान, सृष्टिके भेद, प्रत्येक ब्रह्माण्डके विभागके प्रत्येक अधिदैवका अस्तित्व, कर्मकी गति, जड़ राज्यमें कर्मका प्रवाह और चेतन राज्यमें कर्मके प्रवाहकी विचित्रता, बन्धन करनेवाले और मुक्ति देनेवाले कर्मोंके भेद, कर्म ही ब्रह्मस्वरूप हैं, इसका विज्ञान, यज्ञका लक्षण, महायज्ञका लक्षण, उनके साथ सृष्टिका सम्बन्ध, कर्मके भेद, पाप और पुण्यका रहस्य, पाप और पुण्यके फल, कर्म करनेमें मनुष्यकी स्वाधीनता, पुण्य कर्मका माहात्म्य, त्रिविध शुद्धिकी आवश्यकता, देश और कालका स्वरूप, कर्मप्रवाहका अनादि अनन्तत्व, देशकालके सम्बन्धसे कर्मका वैचित्र्य, युक्त कर्म और अयुक्त कर्मके भेद, कर्मभोगके भेद, श्राद्धका विज्ञान, कर्मके साथ व्यष्टि और समष्टिका सम्बन्ध, प्रकृतिके तीन भेद और सात भेदका विज्ञान, ज्ञानकृत कर्म और अज्ञानकृत कर्मके भेद, पुण्य कर्मके द्वारा जीवकी क्रमोन्नतिका विज्ञान, धर्मके अङ्गोंके साथ कर्मके द्वारा क्रमोन्नतिका विज्ञान, युक्त कर्मद्वारा मुक्तिपदलाभका विज्ञान, इत्यादि अनेक विषय इस पादमें वर्णित हैं।

चौथे अर्थात् अन्तिम पादका नाम मोक्षपाद है। इस पादमें कार्य्यब्रह्म और कारण ब्रह्मकी एकता, बन्धन और मोक्षके कारणोंका वर्णन, बीज अंकुरका विज्ञान, सत्कर्म्मानुष्ठान द्वारा मोक्षभूमिमें

पहुंचनेका क्रम, क्रियाबीजके भेद, क्रियाकी गतिके नाशका वर्णन, जीवन्मुक्तके कर्मकी गतिका वर्णन, कर्मकी उत्पत्ति और लयका विज्ञान, भोगकी निष्पत्तिका विज्ञानवर्णन, वैराग्यका रहस्य वर्णन, निवृत्ति मार्गका वर्णन, यज्ञ-माहात्म्यका वर्णन, यज्ञ और महायज्ञसे प्रकृतिका सम्बन्ध वर्णन, प्रकृति-जयका उपाय, प्रकृति-जयसे स्व-स्वरूप विकाशका सम्बन्ध, स्वरूपका लक्षण, स्वरूपमें प्रकृतिका लय, शुक्लगति और कृष्णगति, जीवन्मुक्तकी गति, संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि और क्रियाशुद्धिसे मोक्ष, कर्मयोगका लक्षण, जीवन्मुक्तके अन्तःकरणकी वृत्तिका लक्षण, कर्मके अध्यासकी सात अवस्था, कर्म अकर्मादिके भेद, कर्म-साधनका महत्त्व, जीवन्मुक्तके कर्मके लक्षण, जीवन्मुक्तका कार्य भगवत्कार्य ही होता है, इत्यादि अनेक गहन विषय वर्णित हैं।

इस प्रकारसे श्रीजैमिनिदर्शन वेदोक्त विशेष कर्म-विज्ञान और श्रीभरद्वाजदर्शन यावत्कर्मरहस्य और साधारण कर्मविज्ञानका सिद्धान्त निर्णायक है। इन दोनों दर्शन ग्रन्थोंके बिना अध्ययन किये अन्य मीमांसादर्शनोंमें प्रवेश करना सुविधाजनक नहीं होता। इसी कारण इसको पूर्व्वमीमांसादर्शन कहते हैं।

(दैवीमीमांसादर्शन)

भगवान् सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। उनका पूर्ण रूपसे साक्षात्कार करना हो तो सद्भाव, चिद्भाव और आनन्दभावकी प्राप्तिके द्वारा ही उनका साक्षात्कार हो सकता है। इसी कारण इन तीन प्रकारके भावोंकी प्राप्तिके लिये ही तीनों मीमांसाका विज्ञान कहा गया है। सद्भावके साथ कार्य्य ब्रह्मका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, इसी कारण पूर्व्वमीमांसा (कर्म्ममीमांसा) दर्शन कर्म्ममार्गके सहारेसे ही मुमुक्षुको विराट्रूपी कार्य्यब्रह्ममें व्यापक सद्भावकी प्राप्ति करता है। चिद्भावके साथ कारणब्रह्मका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, इसी कारण

उत्तरमीमांसा (वेदान्त) दर्शन ज्ञानमार्गके सहारेसे ही मुमुक्षुको प्रकृतिसे अतीत कारणब्रह्मके चिद्भावकी प्राप्ति कराता है और आनन्दभाव चित् एवं सद्भावमें व्यापक है, इसी कारण दैवीमीमांसा (मध्यमीमांसा) दर्शन मुमुक्षुको ऊपर लिखित दोनों मीमांसाके साथ विरोध न रखता हुआ ब्रह्मानन्दसागरमें लीन करके कृतार्थ करता है। ये तीनों भाव एक ही परमभावके अङ्गरूप होनेसे परस्परके इन भावोंमें इस प्रकार सम्बन्ध है कि एक भावकी प्राप्तिसे अन्य दोनों भाव स्वतः प्राप्त होते हैं। एवं इसी कारणसे तीनों मीमांसाका साधनमार्ग भिन्न भिन्न होनेपर भी लक्ष्य एक होनेसे इनमें वास्तवमें भेद प्रारम्भसे ही नहीं रक्खा गया है। अन्नके परिणामरूप शरीरकी रक्षाके लिये शरीरके यन्त्रोंमेंसे मुख प्रधान है, अन्य मतसे पाकस्थली मुख्य है, तृतीय मतसे हृद्यन्त्र प्रधान है, इस प्रकार मतभेद विचारवान् पुरुषके लिये कुछ भी नहीं करसकता है, क्योंकि अन्न प्रथम मुखके द्वारा ही पाकस्थलीमें प्रवेश करके रसरूपसे हृदयमें प्रवेश करता है और वहां रक्त बनकर सारे शरीरकी रक्षा करता है, इस कारण शरीरकी रक्षाके लिये तीनों यन्त्र जिस प्रकार समान उपकारी और सहयोगी हैं उसी प्रकार एक ही ब्रह्मके तीन प्रकारके भावोंके सहारेसे ब्रह्ममार्गमें चलनेवाली तीनों मीमांसाका लक्ष्य एक ही होनेसे सब परस्परमें उपकारी और सहयोगी हैं इसमें सन्देह नहीं। जो उन्नत ज्ञानके पदपर स्थित हैं वे कर्म्म और भक्तिके लक्ष्यरूप अन्तिमभावमें अवश्य ही पहुंचे हुए होंगे। इसी प्रकारके यथार्थ कर्म्मयोगी और भक्तके लिये भी दूसरे दो अधिकार प्राप्त करना सुगम होता है। इसी कारण तीनों मीमांसाओंमें मतभेद देखकर संदेह करनेकी आवश्यकता नहीं है।

ऊपर लिखित मतभेद हानिकारक न होनेपर भी दैवीमीमांसा-

दर्शनमें विशेषता है कि, योगदर्शनके समान इसके साथ किसी दर्शनका भी मतभेद नहीं है। कारण यह है कि, दैवीमीमांसादर्शनके प्रतिपादन करनेका विषय परमात्माकी आनन्दसत्ता है, एवं आनन्दसत्ताके सत् और चित् दोनोंमें ही व्यापक होनेसे सद्भाव और चिद्भाव दोनोंमें ही आनन्दभावकी प्राप्ति होती है। दैवीमीमांसादर्शनके प्रथम पादमें दोनों ओरसे प्राप्त होनेवाले इसी आनन्दका ही वर्णन किया गया है। इसके प्रथम पादका नाम रसपाद है। भगवान् रसरूप हैं। वेदमें कहा है कि—

"रसो वै सः" "आनन्दरूपं परमं यद्विभाति"

इन मन्त्रोंके द्वारा श्रीभगवान्‌को रसरूप अर्थात् आनन्दरूप कहा है। उनकी यही आनन्दसत्ता सत् और चित् दोनोंके भीतर होकर ही प्राप्त होती है। सत्‌के साथ कार्य्यब्रह्मका सम्बन्ध होने से सद्भावसे मिला हुआ आनन्दप्रकृतिमें प्रतिबिम्ब-युक्त होकर जीवके अनुभवमें आता है। इसी कारण इस आनन्दको सुख कहते हैं। पुत्रके प्रति स्नेह, स्त्री मित्रादिके प्रति प्रेम, गुरुजनोंपर श्रद्धा आदि, यही सब लौकिकरसमें गिने जाते हैं। परन्तु जब साधकका चित्त लौकिकरसका लौकिकपना और नाशवान होना जानकर उससे वैराग्ययुक्त होता हुआ अलौकिक (साक्षात् चित्सम्बन्धयुक्त) आनन्दमें डूबनेके लिये परिश्रम करता है तब ही यह रस भगवद्भक्तिरूपसे प्रकट होकर साधकको क्रमपूर्वक 'वैधी' और "रागात्मिका"रूप भक्तिकी दो कक्षाओंमें धीरे धीरे उन्नत करता हुआ अन्तमें "पराभक्ति"के पदपर स्थापित और आनन्दसमुद्रमें डुबा देता है, वैधी और रागात्मिका दोनों ही गौणी भक्ति है। भक्तिकी वैधी अवस्थामें साधक श्रवण, कीर्त्तन, पादसेवन, अर्च्चन, आत्मसमर्पणादि नौ प्रकार सीढ़ियोंपर क्रमपूर्वक चढ़ते चढ़ते भगवान्‌में अनुरक्त होनेके लिये अभ्यास करता है। तत्पश्चात् इसी

प्रकार अभ्यास करते करते जब उसके ऊपर भगवान्‌की कृपा होती है, तब उसी अभ्यासके फलसे भगवान्‌के प्रति अनुराग प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। इसीका नाम रागात्मिका भक्ति है। विषयीका जिस प्रकार विषयमें अनुराग होता है, भक्तके चित्तमें इस समय ठीक वैसा ही भगवान्‌के प्रति अनुराग वा एक प्रकारकी आसक्ति होती है। इस दर्शनका मत यह है कि मायारूप दृश्यमान संसार चौदह भागमें विभक्त होनेसे वह आसक्तिप्रकाशक रस भी चौदह प्रकारका होता है। उनमेंसे वीर, करुण, हास्य, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, रौद्र, ये सात रस गौण, एवं दास्य, सख्य, कान्त, वात्सल्य आत्मनिवेदन, गुणकीर्त्तन, तन्मय, ये सात रस मुख्य हैं। दैवी-मीमांसादर्शनमें ऐसा कहा है कि—

रसज्ञानमपि चतुर्दशधा तत्र सप्त मुख्याः सप्त गौणाः। हास्यादयो गौणाः दास्यासक्तिसख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्तिगुणकीर्त्तनासक्तितन्मयासक्तयश्च मुख्याः।

इन चौदह रसोंके द्वारा ही साधक भगवान्‌के राज्यमें आगे बढ़ सकता है। तो भी मुख्य रसोंके द्वारा साक्षात् रूपसे, एवं गौण रसोंके द्वारा परम्परारूपसे उन्नत होता है। भावके वैचित्र्यके कारण मुख्य आसक्तिसे युक्त भक्तोंमेंसे कोई उनको दासभावसे, कोई सख्यभावसे, कोई कान्तभावसे, कोई वात्सल्यभावसे, कोई आत्मनिवेदनभावसे, कोई गुणकीर्तनभावसे; कोई तन्मयभावसे, इसी प्रकार अनेक भावोंसे भगवान्‌के प्रति अनुरागवान् होकर साधक संसारकी लौकिक वासनाओंको त्याग करता हुआ अत्यन्त आनन्द और शान्तिको प्राप्त करता है। इसी प्रकार उनके आनन्दभावमें भगवान् भक्त तीव्र संवेग (परवैराग्य) के आश्रयसे जगत्‌की सब वस्तुओंको त्याग करके जब रातदिन मन-रूपी भ्रमरको भगवान्‌के चरणकमलके मकरन्द (पुष्परस) के

पीनेमें तत्पर रहता है, एवं अन्य सब विषयोंको त्याग करता हुआ उनके ही ध्यानमें उन्मत्त (पागल) रहता है, तब धीरे धीरे भगवान्की कृपासे साधककी ऐसी एक उन्नत अवस्था आ उपस्थित होती है कि, जिस समयमें वह तन्मय होकर ध्येयरूप भगवान्के साथ अपनी "जुदाई" भूल जाता है। इसी तन्मयभावकी पूर्णता होने पर फिर उसकी ध्याता ध्यान ध्येयरूपी त्रिपुटी नहीं रहती है, वह परमात्माके साथ एकता प्राप्त होकर "वासुदेवः सर्वम्" अर्थात् सब स्थानोंमें ही परमात्माकी सत्ता देख सकता है। यही पराभक्तिकी अवस्था है। इस अवस्थामें भक्तिके साथ ज्ञानका कोई भेद नहीं रहता है, एवं इसी प्रकारका ज्ञानी भक्त निर्विकल्प समाधिकी पदवीपर आरोहण करता है। प्रकृतिमें प्रतिबिम्बित ज्ञानरूपके साथ उसका सम्बन्ध इसी स्थानमें आकर सम्पूर्णरूपसे बन्द हो जाता है, एवं तब वह साक्षात् चिदानन्द सागरमें मग्न होता हुआ जीवभावसे मुक्त होकर ब्रह्मभावको प्राप्त होता है। यही दैवीमीमांसादर्शनके रचयिताका अन्तिम प्रतिपाद्य विषय है।

इस मीमांसादर्शनके द्वितीय पादका नाम उत्पत्तिपाद है। उत्पन्न होनेवाले संसारकी उत्पत्ति विधि न जाननेसे, किसीके भी चित्तमें संसारचक्रकी निस्सारता और परिणाममें दुःखप्रदता देखकर वैराग्य नहीं हो सकता है, एवं लौकिक स्नेहलताका बन्धन त्याग करते हुए परमात्मपदलाभके अर्थ चित्तकी व्याकुलता नहीं होती है, इसी कारण भरम है परिणाम जिसका ऐसी उत्पत्ति दिखानेके अर्थ उत्पत्तिपाद इस दर्शनमें रक्खा गया है। सृष्टिकी उत्पत्तिके कार्यमें ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिरूपिणी प्रकृतिका एकमात्र सम्बन्ध है। प्रकृति जड़ है, जड़ वस्तुकी स्वयं कार्य्य करनेकी शक्ति नहीं होती है इस कारण सृष्टिकार्य्यमें चेतन ब्रह्मकी आवश्यकता होती है। यही सृष्टि तीन प्रकार की है-आध्यात्मिकी, आधिदैविकी

और आधिभौतिकी। प्रकृति अनादि और अनन्त है इसी कारण प्राकृतिकी लीलावैभव-स्वरूपिणी अनन्त कोटि ब्रह्माण्डरूपा आध्यात्मिक वा विराट् सृष्टि भी अनादि और अनन्त है, परन्तु विराट् सृष्टि नित्य होनेपर भी एक एक ब्रह्माण्डका अथवा जीव शरीररूपी पिण्डका लय होता है, इस कारण आधिदैविकी और आधिभौतिकी सृष्टि सादि और सान्त है। एक ब्रह्माण्ड वा और जगत् कालानुसार उत्पन्न होता है, अनेक युगपर्यन्त स्थितिको भी प्राप्त होता है, एवं कालानुसार लय प्राप्त भी होता है। इसी प्रकार चित् और जड़की ग्रन्थि द्वारा उत्पन्न एक एक जीव भी लक्ष लक्ष योनिपर्यन्त जन्ममृत्युचक्रमें परिभ्रमण करके अन्तमें पराभक्तिके द्वारा ग्रन्थिभेद करता हुआ विमुक्त होता है। इन सब सिद्धान्तोंके लिये इस पादमें सूत्र ये हैं—

अनाद्यनन्ताध्यात्मिकी सृष्टिः।

आधिदैविकाधिभौतिकसृष्टिः सादिः सान्ता।

चिज्जडग्रन्थिर्जीवः।

तद्भेदनाद्भयमुक्तिः।

सृष्टि दो प्रकारकी है-बैजी और मानसी। बैजी सृष्टि प्राकृतिक है, परन्तु ऋषि लोग मनके बलसे मानसी सृष्टि भी करते थे। सप्तर्षियोंने प्राथमिक सृष्टि करनेके समय मनके द्वारा ही सृष्टि की थी। "मनसा प्रजा असृजन्" इत्यादि शास्त्रीय वचन भी मिलते हैं। जिस कार्य्यके द्वारा यही सृष्टिकी धारा विपरीत होकर लयकी ओर अग्रसर होती है, उसीका नाम साधन है। वह प्रवृत्ति और निवृत्तिनामक मार्ग-भेदसे द्विधा विभक्त हुआ है। प्रवृत्तिमार्ग गौण और निवृत्तिमार्ग मुख्य है। प्रवृत्तिमार्गमें अध्यात्मचिन्तन, शक्तिपूजन एवं भावशुद्धिके द्वारा उन्नति और मुक्ति होती है। परन्तु सकल क्रिया, सकल उपासना एवं सकल चेष्टामें ही समर्पण

बुद्धि रहनेसे मुक्तिका द्वार शीघ्र खुल जाता है। अहंकार ही जीव भावका कारण है एवं इसीके द्वारा ही स्वार्थ-बुद्धि प्रबल होती है। समर्पणके द्वारा इसी अहंकारके नाशके साथ ही साथ स्वार्थमूलिका वासनाके नाश होनेपर जीवभावके दूर होनेसे शिवभावकी प्राप्ति होती है। सकल प्रकारकी भक्ति ही माहात्म्य ज्ञानपूर्वक होनी चाहिये, अन्यथा प्रीति जार-प्रीतिवत् होती है एवं यदि माहात्म्य ज्ञानपूर्वक यथार्थ प्रीति हो तो वैसा होनेपर भक्तका कभी भी पतन नहीं होता है, वह धीरे धीरे अध्यात्म राज्यमें प्रविष्ट होगा, यही उत्पत्तिपादका अन्तिम सिद्धान्त है।

उत्पत्तिकी द्वितीय अवस्था स्थिति होनेके कारण इस दर्शनमें उत्पत्तिपादके पश्चात् स्थितिपाद कहा गया है। प्रकृति गुणमयी है एवं भगवान् भावमय हैं। इस कारण जगत्‌की स्थितिदशामें सर्वत्र गुण और भावकी लीला परिदृष्ट होती है। भगवान्‌में गुण और भाव हैं, किन्तु वे गुण और भावमें नहीं हैं। वेद गुण और भावके द्वारा पूर्ण है, इस कारण वेद भगवान्‌का वाक्य और स्वतः पूर्ण है, एवं अभ्रान्त और नित्य है। गुण और भावका प्रकाश करते हैं, इस कारण स्मृति आदि शास्त्र भी वेदके समान प्रामाणिक हैं। इन सिद्धान्तोंके लिये इस दर्शनमें सूत्र हैं कि—

गुण भाववानपि माक्षी तेषु।

गुणभावमयत्वाद्भगवद्वाक्यं वेदः॥

स्वतः पूर्णोऽभ्रान्तो नित्यश्च।

तत्समानीतराणि तद्भावोद्योतकत्वात्।

गुण और भावसे पूर्ण सृष्टिकी रक्षाके अर्थ त्रिविध शक्ति सन्नद्ध हैं। इस कारण भगवान्‌की शक्ति, सृष्टिके आदिमें भगवान्‌से ही प्रकाशित होकर पुनः लयके समय भगवान्‌में ही विलीन होती है। प्रकृतिके प्रधान तीन विभागके अनुसार यही शक्ति

विदित है। अध्यात्म विभागके रक्षणार्थ ऋषिशक्ति, अधिदैव विभागके रक्षणार्थ देवशक्ति और अधिभूत विभागके रक्षणार्थ पितृशक्ति है। जगत्‌में ज्ञानका प्रचार एवं काल और युगानुकूल वेदका आविर्भाव ऋषियोंकी कृपासे ही होता है। ऋषिशक्ति नित्य शक्ति है। जीवोंके कर्मोंके अनुसार देवता लोग उनकी ऊर्द्ध्व या अधोगति कराते हैं। दैव जगत्‌में नाना प्रकारके कार्य्योंका सम्पादन आदि अधिदैव कार्य्य देवतागणकी कृपासे होता है। देवशक्ति नित्य और नैमित्तिक है। इस सिद्धान्तोंके विषयमें कहा है कि—

> ऋषिदैवतमाध्यात्मिकं नित्यश्च।
> पितृदैवतमाधिभौतिकम्।
> देवदैवतमाधिदैविकम्।
> नित्यनैमित्तिकाश्चैते।

इन्द्रादि लोकपालगण नित्य देवशक्ति हैं, एवं जगत्‌में किसी दैवकार्य्यके सम्पादनार्थ श्रद्धा क्रिया और मन्त्रादिके द्वारा जिस नित्य शक्तिको किसी केन्द्रमें आवाहन किया जाय, वही देवगणकी नैमित्तिक शक्ति है। यथा-ग्रामदेवता आदि। स्थूल जगत्‌में ऋतुओंकी विकाश-शृङ्खला, स्थूल जगत्‌का रक्षणावेक्षण, खाद्यप्रदान, अन्न जलादिकी देशकालानुसार व्यवस्था, ये सब पितृशक्तिके अधीन हैं। पितृशक्ति नित्य और नैमित्तिक है। अग्निष्वात्ता, अर्य्यमा आदि पितृगण नित्य हैं एवं जो पितृगण देहच्युत होनेपर चन्द्रलोकमें जाकर निज निज कर्मफल भोगके अनुसार नित्य पितृगणके लोकमें वास करते हैं, उनका नाम नैमित्तिक पितृगण है। ब्रह्मयज्ञके द्वारा ऋषियोंका संवर्द्धन होता है एवं उनका संवर्द्धन होनेपर व्यष्टि और समष्टि जगत्‌में ज्ञानशक्तिकी वृद्धि होती है। यज्ञके द्वारा देवताओंका संवर्द्धन होता है एवं देवता-

ओंके तुष्ट होनेपर शक्ति और सुखकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार पितृयज्ञके द्वारा पितरोंका संवर्द्धन होता है एवं उनकी तुष्टिके फलसे जीवको स्वास्थ्य और वीर्य्यलाभ होता है। भगवान्‌के अवतारकी तरह ऋषि और देवताओंके भी अवतार होते हैं। जब समष्टि जगत्‌में आसुरीशक्तिका प्रभाव इस प्रकार वृद्धि होता है कि, दैवीशक्ति हीनबल होकर अधर्म्मका अभ्युत्थान और धर्म्मके पतन होनेका उपक्रम होता है, इस प्रकारकी आसुरीशक्तिके प्रकोपको दूर करना व्यष्टि या समष्टि जीवोंके साध्यातीत हो पड़ता है, तब ही भगवान् आवश्यकतानुसार अंशरूपसे अथवा पूर्णरूपसे अवतीर्ण होकर धर्म्मकी रक्षा और आसुरीशक्तिका दमन करते हैं। इसी प्रकार प्रकृतिके आध्यात्मिक अथवा आधिदैविक विभागमें, ज्ञानराज्यमें अथवा कर्म्मराज्यमें किसी प्रकारके अलौकिक गड़बड़ होनेपर ऋषिगण अथवा देवतागणके अंश या पूर्णरूपसे अवतार होते हैं। इन्हीं दो प्रकारके अवतारोंके अतिरिक्त भगवान् और ऋषिदेवतागणके विशेष और आविशेष नामक और भी दो प्रकारके अवतार होते हैं। गुरुदेवमें दीक्षादानके समय विशेष शक्ति और आवेशावतारमें आवेशके समय अविशेष शक्तिका प्रकाश होता है। अन्तःकरणमें इनके नित्य अवतार जीवको पापकर्म्मसे रक्षा करके निरन्तर कल्याण विधान करते हैं। परमात्माकी साक्षात् शक्ति मुख्यतः तीन प्रकारकी है; यथा-ब्रह्मा विष्णु और रुद्र। इन्हीं तीन देवताओंसे तैंतीस देवता एवं प्रकृतिके विशाल राज्यमें कार्य्यवैलक्षण्यके कारण तैंतीस देवतासे विस्तृत होकर तैंतीस करोड़ देवता हुए हैं। भगवान्‌की सत् और चित्, उभयविध सत्ता सर्व्वत्र विद्यमान रहनेपर भी देवतागणमें चित्सत्ता और दैवीगणमें सत्सत्ता का प्राधान्य रहता है। श्रद्धा और उपासनाके द्वारा भगवान् एवं भगवच्छक्तिसमूहकी कृपाका लाभ होता है। यही उपासना या

योग चतुर्विध है, यथा—मन्त्र, हठ, लय और राजयोग। कार्य्यब्रह्म या जगत् नामरूपात्मक होनेके कारण, दिव्य नाम अर्थात् मन्त्र एवं स्थूलमूर्त्तिके अवलम्बनके द्वारा जिस योगका अनुष्ठान होता है, उसका नाम मन्त्रयोग है। स्थूल शरीरके साथ सूक्ष्म शरीरका घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीरका ही विकारमात्र है। इसी कारण स्थूल शरीरपर आधिपत्य करते हुए जिस योगके द्वारा सूक्ष्म शरीरके ऊपर आधिपत्य विस्तार किया जाता है, ज्योतिर्ध्यानात्मक इस योगका नाम हठयोग है। समष्टि और व्यष्टि विचारसे ब्रह्माण्ड और पिण्डदेह एकही सम्बन्धसे युक्त हैं इस कारण ब्रह्माण्डमें जो कुछ है, इस पिण्डदेहमें भी उन सबका केन्द्र स्थान विद्यमान है। कुलकुण्डलिनीरूपा प्रकृति शक्ति एवं चैतन्यरूप शिवका स्थान इस शरीरमें है। इसी कारण जिस योगके द्वारा उक्त कुण्डलिनी शक्तिको जाग्रत् करके सहस्रारस्थित शिवमें लय किया जाय, बिन्दुध्यानात्मक उसी योगका नाम लययोग है। अन्तःकरण ही संसारमें बन्ध और मोक्षका कारण है। इसी कारण केवल अन्तःकरणकी सहायतासे जो साधन होता है, ब्रह्मध्यानात्मक उसी योगका नाम राजयोग है। राजयोगके द्वारा ही निर्विकल्प समाधिका लाभ होता है। इसी अवस्थामें परामक्ति, परवैराग्य, परज्ञान, जीवन्मुक्ति आदि सकल दर्शनोंके सब लक्ष्य ही एकभावमें परिणत होते हैं। एवं ज्ञानी भक्त सच्चिदानन्दसागरमें उन्मज्जन और निमज्जनके सुखको अनुभव करता हुआ कृतार्थ होता है। इस प्रकारकी भक्ति महात्माओंकी कृपा एवं भगवत्कृपा द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। महत्संग दुर्लभ, अमोघ और विचित्र है। भगवान् और भगवद्भक्तमें कोई भेद नहीं है। इन्हीं भगवद्भक्तकी कृपा देवर्षि नारदके मतमें भगवत्कृपाके द्वारा प्राप्त होती है। दीनबन्धु भगवान्‌की दया होनेपर वे साधुसंगके

द्वारा भक्तको उद्धार करते हैं। महर्षि शाण्डिल्यके मतमें ब्रह्मकार-निरोध होनेसे और महर्षि द्वैपायनके मतमें दीनता आनेपर तब महत्संग लाभ करके भक्त मुक्तिपदवीपर प्रतिष्ठित हो सकता है। यही स्थितिपादका अन्तिम सिद्धान्त है।

यह विश्व संसारका अमोघ सिद्धान्त है कि, जो कुछ उत्पत्ति और स्थितिके अधीन है, वह लयके भी अधीन होता है। संसार-चक्रके इस नियमित परिवर्त्तनके क्रमके द्वारा अनुलोम विधिके अनुसार ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति होती है एवं ब्रह्माकी शताय़ुके पूर्ण होनेपर विलोम विधिके अनुसार ब्रह्माण्डका प्रलय होता है। यही प्रलय व्यष्टि और समष्टि विचारसे चतुर्धा विभक्त हुआ है; यथा—नित्य, आत्यन्तिक, नैमित्तिक और प्राकृतिक। इनमेंसे जगत्का निरन्तर परिवर्त्तनरूप नित्य प्रलय और जीवकी मुक्ति द्वारा आत्यन्तिकप्रलय, ये दोनों व्यष्टिमें एवं खण्डप्रलय वा नैमित्तिकप्रलय और महाप्रलय वा प्राकृतिकप्रलय, ये दोनों समष्टिमें होते हैं। महाप्रलयमें समस्त ब्रह्माण्ड ध्वंस होकर विराट् प्रकृतिके गर्भमें विलीन होनेके पूर्व्व सृष्टि और स्थितिकी जो कुछ दृश्य देखनेमें आती है, वह वास्तवमें अस्तित्वरूप ब्रह्मके उदयम करनेवाली मायाका ही लीला-विलासमात्र है। माया त्रिगुणमयी है, किन्तु भक्त चतुर्विध है; क्योंकि आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी भक्त गुणमयी प्रकृतिके अन्तर्गत होनेपर भी ज्ञानी भक्त गुणातीत ब्रह्मपदवीपर प्रतिष्ठित होनेमें समर्थ होता है। उसका निर्मल अन्तःकरण तटस्थ दशामें ध्यानके परिपाकमें सविकल्प समाधि लाभ करता हुआ ब्रह्मके अधिदैव वा ईश्वरभाव एवं अधिभूत वा विराट् स्वरूपका साक्षात्कार प्राप्त होता है और तत्पश्चात् क्रमशः स्वरूप दशामें सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्मका साक्षात्कार करता हुआ निर्विकल्प समाधि लाभ करके जीवन्मुक्ति पदवीपर

प्रतिष्ठित होता है। मन्त्र, हठ, और लय, इन तीनों योगोंके ही ध्यान सगुण होनेसे तत्तत् समाधि भी सविकल्प होती है। मन्त्र-योगकी समाधिका नाम महाभाव, हठयोगकी समाधिका नाम महाबोध एवं लययोगकी समाधिका नाम महालय है। अतःपर निर्गुण निराकार ध्यानके परिणाममें निर्विकल्प समाधि होती है। भक्तको निर्विकल्प समाधि होनेपर, इस परामक्तिकी दशामें उसका अहम्भाव पूर्वकथित प्रकारसे नाश होकर समर्पणबुद्धिका उदय होता है। समर्पणबुद्धिकी प्रथम दशामें "वे मेरे हैं" द्वितीय दशामें "मैं उनका हूं", एवं तृतीय दशामें "मैं ही वे हूं" इस प्रकार भावको प्राप्त होते हैं। सृष्टिके विस्तृत सात भेदके अनुसार इन्हीं सकल भावोंकी दशामें भक्त भगवान्को सात भावोंमें देखनेमें समर्थ होता है। प्रथम दर्शन दिव्य नाममें होता है। इसी समय मन्त्र और देवताके एकताभाव द्वारा भगवान्के दर्शन होते हैं। द्वितीय दर्शन दिव्यरूपमें होता है। इसी समय उनके सगुण मूर्त्तिसमूह भावके उद्बोधक होकर भगवान्के साक्षात्कारका कारण होते हैं। तृतीय दर्शन विभूतिमें होता है। तब अनन्यत्व और व्याप्त उनके विभूतिसमूह साधकको उनके भावमें भावित करते हैं। चतुर्थ दर्शन स्थूल सूक्ष्म शक्तिमें होता है। तब उनकी सूक्ष्म शक्तिके विकाश-स्वरूप अन्तःकरणमें एवं स्थूल शक्तिके विकाशस्वरूप स्थूल जगत्‌में उनके दर्शन होते हैं। पञ्चम दर्शन गुणोंमें होते हैं। तब त्रिगुण-मय जगत्‌में त्रिगुण विलासके विचारसे उनके दर्शन होते हैं। षष्ठ दर्शन भावमें होते हैं। तब भावमय ब्रह्मके आदि त्रिभाव कार्य्य-ब्रह्ममें होनेके कारण, इस प्रकार भाव-तत्त्वानुसन्धानमें भगवान्‌के दर्शन होते हैं। सप्तम दर्शन स्वरूपमें होता है। तब निर्विकल्प समाधिकी दशामें स्वस्वरूपमें उनकी अद्वितीय ब्रह्मसत्ताका साक्षात्कार लाभ होता है। ब्रह्म अद्वितीय होनेपर भी ब्रह्मदर्शनके इसी

प्रकारके सप्तभेद केवल प्रकृति, प्रवृत्ति और शक्तिभेदसे होते हैं। उनकी अद्वितीय सत्ता, जिस दर्शनशास्त्रमें जिस भावसे ही वर्णित क्यों न हो, सब दर्शनोंका तत्वानुसन्धान करनेपर स्पष्ट देखा जाता है कि, कहीं उनको प्रति पिण्डमें देखकर संख्यारूपसे अनन्त, एवं कहीं पिण्ड-समूहकी पृथक्ता बताने वाली प्रकृतिके विलयमें ध्यापकरूपसे उनको अनन्तसत्ता प्रतिपादित हुई है। यही सांख्यके बहुपुरुष और मीमांसाके एकात्मवादका अलौकिक तात्पर्य है। और यही द्वैत और अद्वैतवादका गूढ़ रहस्य है। उनकी सत्ता उपाधिरूपसे भिन्न भिन्न प्रतीयमान होनेपर भी तत्वतः एक अद्वितीय भिन्न द्वितीय कदापि नहीं है। अनन्यभक्तिके द्वारा तदस्थ दशाके विलय होनेपर इस प्रकारके स्वरूपज्ञानका उदय होनेसे हृदयग्रन्थिका भेदन होता है, समस्त संशयजाल छिन्न होता है एवं वासनाके क्षय होनेपर कर्मका भी क्षय होता है। ये ही पराभक्ति वा परमज्ञानकी दशा है। जो भाग्यवान् भक्त अनन्त-कोटि जन्मकी सुकृतिके फलसे इस दशाको प्राप्त करता है, उसको पुनः सुख दुःखमय संसारचक्रमें परिभ्रमण करना नहीं होता है। वह आत्यन्तिक प्रलय तथा विदेह मुक्तिलाभ करके आनन्दमय ब्रह्ममें विलीन होता है। उसका इस समयका अनुभव मीमांसात्रयके लक्ष्यके अनुसार त्रिभावापन्न होकर अन्तमें एक भावमें ही मिल जाता है। "यह जगत् ही वे हैं" यह कर्ममीमांसाका अनुभव है, "वे ही यह जगत् हैं" यह दैवीमीमांसाका अनुभव है एवं "मैं ही वे हूँ" यह ब्रह्ममीमांसाका अनुभव है। साधक श्रद्धा और भक्तिके प्रभावसे एक दशाके अनुभवसे अन्य दो दशाके अनुभवोंको प्राप्त करके सकल दशाओंका ही सामञ्जस्य कर सकता है, क्योंकि जहां अद्वितीय ब्रह्मके यथार्थ ज्ञानका विकाश है वहां फिर असामञ्जस्यका अवकाश कहां है? यही मध्यमीमांसा और

दैवीमीमांसामें प्रतिपादित नयवाद है। यही जीवकी अन्तिम गति है।

(ब्रह्ममीमांसादर्शन)

वेदोक्त ज्ञानकाण्डकी प्रतिष्ठा वेदान्तदर्शन (ब्रह्ममीमांसादर्शन) की लक्ष्यीभूत है। यह दर्शन सप्तम ज्ञानभूमिका होनेसे और सब दर्शनोंका शीर्षस्थानीय है। इसके प्रवर्त्तक महर्षि वेदव्यास हैं। वेदके अन्तिम अर्थात् ज्ञानकाण्डका प्रतिपादक होनेसे इस दर्शनको उत्तरमीमांसा भी कहा जाता है और ब्रह्म ही इसका मुख्य प्रतिपाद्य होनेसे इसका नाम ब्रह्ममीमांसा भी है।

वेदान्तदर्शनमें चार अध्याय और प्रत्येक अध्यायमें चार चार पाद हैं। प्रथम अध्यायका साधारण नाम समन्वय है। इसमें अनेक प्रकारके श्रुतिवाक्योंका समन्वय किया गया है। यथा प्रथम अध्यायके प्रथम पादमें स्पष्टब्रह्मलिङ्ग श्रुतिसमूहका, द्वितीय पादमें अस्पष्ट ब्रह्मवाचात्मक श्रुतिसमूहका, और तृतीय और चतुर्थपादमें संज्ञवाचक श्रुतिसमूहका समन्वय किया गया है। द्वितीय अध्यायका साधारण नाम अविरोध है। इसके प्रथम पादमें स्वमत-प्रतिष्ठाके लिये स्मृति तर्कादि-विरोध परिहार, द्वितीय पादमें विरुद्धमतोंके प्रति दोषारोप, तृतीय पादमें ब्रह्मसे तत्त्वोंकी उत्पत्ति और चतुर्थ-पादमें भूतविषयक श्रुतिसमूहका विरोध-परिहार किया गया है। फलतः इस अध्यायमें विरोधी दार्शनिक मतोंका खण्डन करके युक्ति तथा प्रमाणके साथ महर्षि वेदव्यासने वेदान्तमतका अविरोध प्रतिपादन किया है। तृतीय अध्यायका साधारण नाम साधन है। इसमें जीव तथा ब्रह्मका लक्षण निर्देश करके मुक्तिके बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग साधनका उपदेश किया गया है। चतुर्थ अध्यायका साधारण नाम फल है। इसमें जीवन्मुक्ति, जीवकी उत्क्रान्ति, सगुण तथा निर्गुण उपासनाके फलके तारतम्यपर विचार किया गया है।

वेदान्तदर्शनका मुख्य उद्देश्य जीवको दुःखमय संसारसे मुक्त करके आनन्दमय ब्रह्मपदमें स्थापित करना है। शास्त्रोंमें कहा है कि:—

जीवो ब्रह्मैव नापरः।

जीव और ब्रह्म एक ही है। भेदभावका मूल अविद्या है। अविद्याके आवरणमें आवृत होकर ही जीव अपनेको ब्रह्मसे पृथक् समझता है, इसलिये तत्त्वज्ञानके उदय होनेसे जीवकी यह अविद्या जब दूर होती है, तब ही जीव-ब्रह्मकी एकता होनेपर जीवकी मुक्ति होती है। जीव-ब्रह्मका इस प्रकार औपाधिक भेदभाव उपनिषदोंमें बहुधा वर्णित है। ब्रह्मबिन्दूपनिषदमें लिखा है कि:—

एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।

एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥

एक ही आत्मा भूत भूतमें विराजमान है। जलमें चन्द्रकी तरह वे एक तथा बहुरूपमें देखे जाते हैं। योगवासिष्ठमें भी लिखा है कि,—

स्फुरितचितवलोद्भूता व्यस्थितानेः कणा इव।

सर्वा एवोदिता राम! ब्रह्मणो जीवराशयः॥

अग्निसे स्फुलिंगके सदृश ब्रह्मसे जीव उत्पन्न हुए हैं। इसी लिये वेदके महावाक्योंमें जीवब्रह्मकी एकता प्रतिपादित की गयी है। यथा:—

"तत्त्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मि" "सोऽहम्"।

त्वं अर्थात् जीव, तत् अर्थात् ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूं। जीव और ब्रह्ममें जो भिन्नता बोध होती है वह तात्त्विक नहीं है, भेदकी प्रतीति उपाधिकृत है। पञ्चदशीमें लिखा है कि:—

कोषोपाधिविवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम्।

कोषरूप उपाधिको लक्ष्य करके ही जीवभावकी प्रतीति होती

है। सुख, दुःख, काम, क्रोध रोग, शोक आदि शरीर और मनका धर्म है। जीवात्माका धर्म नहीं है, केवल शरीर तथा मनके साथ संयोग होनेसे जीव अपनेको सुखी तथा दुःखी समझता है, इसका कारण माया है, शास्त्रोंमें कहा है कि:—

माहेश्वरीति या माया तस्या निर्माणशक्तिवत्।
विद्यते मोहशक्तिश्च तं जीवं मोहयत्यसौ॥
मोहादनीशतां प्राप्य मग्नो वपुषि शोचति।

महेश्वरकी जो माया है उसकी मोहशक्तिसे ही जीव मुग्ध होता है और उसी मोहके वशमें आकर जीव ब्रह्मभावको भूलकर अपनेको कर्त्ता भोक्ता सुखी दुःखी समझता है, यह भ्रम रज्जुमें सर्पभ्रम या शुक्तिमें रजत भ्रमके सदृश है। इसी भ्रमकी निवृत्तिसे ही जीव और ब्रह्मका पार्थक्य दूर होकर आनन्दमय ब्रह्मभावमें जीवकी स्थिति होती है।

वेदान्तदर्शनका प्रथम सूत्र यह है:—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।

श्रीभगवान् शंकराचार्य्यजीने इस सूत्रके अन्तर्गत "अथ" शब्दके भाष्यमें लिखा है कि:—

विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थः अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरस्सरं नित्यनैमित्तिक-प्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मल-स्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता अधिकारी।

विधिके अनुसार वेद वेदाङ्ग अध्ययन कर वेदका अर्थ ठीक ठीक जिसने समझा है, इस जन्ममें या जन्मान्तरमें काम्य और निषिद्ध कर्म्मोंको त्याग करके नित्य नैमित्तिक प्रायश्चित्त उपासना आदिके अनुष्ठानसे निष्पाप और निर्मलचित्त होकर शमदमादि साधन-

चतुष्टयसम्पन्न जो हुआ है वही ब्रह्मज्ञान लाभ करनेका अधिकारी है। साधनचतुष्टय, यथा-नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रफलभोग-विराग, शमदमादि षट्सम्पत्ति, और मुमुक्षुत्व। ब्रह्म नित्य है और समस्त संसार अनित्य है, इस प्रकार विचारका नाम नित्या-नित्यवस्तुविवेक है। स्रक्चन्दनवनितादि ऐहलौकिक और स्वर्गादि भोगरूप पारलौकिक सुखके प्रति वितृष्णाका नाम इहामुत्रफल भोगविराग है। ब्रह्मके सिवाय और विषयोंसे मनकी निवृत्तिका नाम शम है, बाह्येन्द्रियकी विषयोंसे निवृत्तिका नाम दम है, वैषयिक वस्तुओंसे चित्तको अलग करनेका नाम उपरति है, शीतोष्णादि द्वन्द्वसहिष्णुताका नाम तितिक्षा है, गुरु और वेदान्तवाक्यमें विश्वासका नाम श्रद्धा है, और ब्रह्ममें चित्तकी एकाग्रताका नाम समाधान है। यही शम दम उपरति तितिक्षा समाधान और श्रद्धा ये षट्-सम्पत्ति कहलाती हैं। चौथा साधन मुमुक्षुत्व अर्थात् मुक्तिलाभकी इच्छा है। इस प्रकार साधनचतुष्टयसम्पन्न होनेसे वेदान्त पढ़नेमें साधकका अधिकार होता है। इन्हीं चारों अधिकारोंके देखनेसे सिद्ध होगा कि, वेदान्तका अधिकार कितना उन्नत है और वेदान्तकी ज्ञानभूमि सब ज्ञानभूमियोंसे श्रेष्ठ है, क्योंकि इसीमें अद्वैत भावकी सिद्धि हो सकती है। तदनन्तर अधिकारानुरूप साधन करते करते जीव मुक्तिभावको प्राप्त करता है।

वेदान्तमें ब्रह्मके दो लक्षण वर्णन किये गये हैं। एक तटस्थ और दूसरा स्वरूप। वेदान्तदर्शनमें लिखा है कि:—

जन्माद्यस्य यतः।

जिस परमात्मासे संसारका जन्मादि अर्थात् सृष्टि-स्थिति-प्रलय-सम्पन्न होता है वही ब्रह्म है। इस सूत्रके द्वारा ब्रह्मका तटस्थ लक्षण कहा गया है। परन्तु ब्रह्मके स्वरूप लक्षणके प्रतिपादक निम्नलिखित सूत्र हैं:—

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः।

प्रतिषेधाच्च।

तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षणको सगुण और निर्गुण ब्रह्म भी कहते हैं। ब्रह्ममें ये दोही भाव हैं-यथाः—

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्।

जिस प्रकार सर्पके कुण्डल बांधकर रहनेसे सर्प भी कह सकते हैं और कुण्डल भी कह सकते हैं। उसी प्रकार ब्रह्मके भी दो भाव समझने चाहिये। स्वरूपभाव मायासे अतीत निर्गुण निष्क्रिय है और तटस्थभाव मायोपहित चैतन्य ईश्वर है। इस विषयमें उपनिषद्के अनेक प्रमाण मिलते हैं। वेदान्तके सिद्धान्तमें ब्रह्म ही सत्य है और जगत् मिथ्या है। जो कुछ जगत्की प्रतीति हो रही है, सो ब्रह्ममें नामरूपमयी मायाका विलासमात्र है। सांख्यदर्शनके परिणामवादानुसार प्रकृतिकी विकृति ही यह संसार है; अर्थात् जिस प्रकार दुग्धके परिणामसे घी माखन आदि वस्तु बनती है, उसी प्रकार प्रकृतिके परिणामसे सृष्टि होती है। परन्तु वेदान्तका सिद्धान्त इस प्रकार नहीं है। वेदान्तदर्शनके अनुसार जगत् ब्रह्मका विवर्त्त है। परिणाम अर्थात् विकार तथा विवर्त्तके लक्षण ये हैं:—

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।

अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त्त इत्युदाहृतः॥

विवर्त्त अर्थात् वस्तुका स्वरूप न बदलकर अन्यथा प्रतीति है। ब्रह्म जगत्रूपेण परिणत नहीं होते हैं, परन्तु मायाके सम्बन्धसे उनमें जगत्की भ्रान्ति होती है। जिस प्रकार मरीचिकामें जल न होनेपर भी अज्ञानी पुरुषको उसमें जलभ्रान्ति होती है, उसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्ममें द्वैतभावमय संसारकी प्रतीति होती है। वास्तवमें संसार भ्रममात्र है। अविद्याके द्वारा उपहित चैतन्य जीव मिथ्या जगत्को सत्यरूप मानकर संसार—बन्धनमें बद्ध होता है। यह

बन्धन अनादि है, क्योंकि वेदान्तदर्शनमें मायाको अनादि कहा गया है। मायाको दो शक्ति है, यथा—आवरण और विक्षेप। आवरणशक्तिसे जीव अपनेको पृथक् समझता है और विक्षेपशक्तिसे जगद्व्रह्मरूप अघटनघटना होती है। इसलिये तो माया अघटनघटनापटीयसी कही गई है। अगत् है नहीं, ब्रह्म ही है, परन्तु उसमें अगत् है ऐसी घटना उत्पन्न करती है, यही मायाकी शक्ति है। जैसा कि, इन्द्रजालमें ऐन्द्रजालिक सूत्रकी सहायतासे शून्यमार्गमें खेलता है, मनुष्योंकी आँखोंके सामने जीवित मनुष्योंको खण्ड खण्ड करके काट देता है, आगमें शरीरको दग्ध कर देता है, परन्तु यह सभी मिथ्या है, ठीक इसी प्रकार संसार भी मिथ्या है। जीव इसको न जानकर बद्ध होता है। जिस प्रकार सूर्यदेव मेघाच्छन्न होनेसे दृष्टिपथमें नहीं आते हैं, उसी प्रकार सत्य ज्ञानरूप ब्रह्म असत्य अज्ञानके अन्धकारसे आच्छन्न होनेपर जीव उनके स्वरूपको नहीं जान सकते हैं। छोटा एक खण्ड मेघ लाखों योजन-व्यास सूर्यको नहीं ढांक सकता है, परन्तु अज्ञानी पुरुष जैसा इस प्रकार समझ लेता है और मेघसे सूर्यको प्रभाहीन समझ भ्रममें पड़ता है, उसी प्रकार मिथ्या जगत्को सत्यरूप समझ कर जीव भ्रान्तिमें पड़ा हुआ है। यथाः—

> घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं,
> यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः।
> तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः,
> स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा॥

मेघके ऊपर मेघ आनेसे जिस प्रकार मूढ़ व्यक्ति सूर्यको ही मेघाच्छन्न और तेजहीन समझता है, उसी प्रकार जीव ब्रह्मरूप होनेपर भी अज्ञानसे अपनेको बद्ध समझता है। जीवका यह बन्धन तात्त्विक नहीं है, परन्तु कल्पनामात्र है, क्योंकि जीव मुक्तस्वभाव है। गौड़पादाचार्य्यने लिखा है कि:—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

वास्तवमें आत्माकी उत्पत्ति नहीं है, विनाश नहीं है, बन्धन नहीं है, मोक्ष नहीं है, साधन नहीं है और मुक्तिकी इच्छा नहीं है। वेदान्तके मतमें मुक्ति साध्य नहीं है, परन्तु सिद्ध वस्तु है। जीव स्वतः ही मुक्त है। इस विषयका दृष्टान्त यह है कि:—

कण्ठचामीकरवत्।

किसी शिशुके गलेमें कण्ठहार था, एक दिन उसे भ्रम हुआ कि, गलेमें कण्ठहार नहीं है, व्याकुल होकर ढूंढने लगा, कहीं हारका पता नहीं लगा, अन्तमें किसी दूसरेने कह दिया कि, उसके गलेमें हार तो पहलेसे ही है, ढूंढता क्यों है? तब बालकका भ्रम दूर हुआ। जीवकी मुक्ति भी ऐसी ही है, जीव स्वभावतः मुक्त ही है। केवल अनादि अविद्याकी छायासे अपनेको बद्ध मान लेता है। सद्गुरुकी कृपासे तत्त्वज्ञान होनेपर अविद्या दूर होती है। उस समय जीव अपने नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभावको जान जाता है। यही जीवकी मुक्ति है।

जगत् भ्रममात्र है, ब्रह्म मायाशक्ति द्वारा जगद्भ्रम उत्पन्न कर रहे हैं, वे ऐन्द्रजालिक हैं, इन्द्रजाल विस्तार करके मिथ्या संसारको सत्यरूप दिखा रहे हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद्में लिखा है कि:—

य एको जालवान् ईशत ईशनीभिः।
सर्व्वान् लोकान् ईशत ईशनीभिः॥

जो एक मायावी सर्व्वशक्तिमान ईश्वर हैं, वे ही समस्त लोगोंको मायाशक्तिसे पालन करते हैं, स्वप्नमय संसारको आँखोंके सामने प्रकट करते हैं, वास्तवमें सब शून्य ही है, इस प्रकार विचार करते करते ह्यूम (Hume) मिल (Mill) आदि पश्चिमी बहुतसे दार्शनिक पण्डित बौद्धोंके शून्यवादपर पहुँच गये हैं। परन्तु

वेदान्तका अद्वैतवाद इस प्रकार शून्यवाद नहीं है। इस मतमें जगद्भ्रमका आधार शून्य नहीं है, परन्तु सच्चिदानन्दमय ब्रह्म है। श्रीमद्भगवान् शङ्कराचार्य्यजीने शून्यवादके परिहार करनेके लिये कहा है कि:—

न तावदुभयप्रतिषेध उपपद्यते शून्यवादप्रसङ्गात्। किञ्चित् हि परमार्थमालम्ब्य अपरमार्थः प्रतिषिध्यते यथा रज्ज्वादिषु सर्पादयः।

जगत् और जगत्का आधार दोनोंकाही प्रतिषेध ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा होनेसे शून्यवाद-प्रसंग हो जायगा। कोई परमार्थ आश्रय है, जिसको आश्रय करके अपरमार्थ बाधित होता है। "नेति" "नेति" द्वारा कार्यका प्रतिषेध ही संगत है, क्योंकि कार्य्य असत् और कल्पित है। जिस प्रकार रज्जुमें सर्पका प्रतिषेध होता है, इसी प्रकार उपदेशसे ब्रह्ममें कल्पित असत्तुओंका प्रत्याख्यान करके ब्रह्मका स्वरूप प्रतिपादन किया गया है। इसमें कार्य्य, जिसका आधार ब्रह्म है, उस कार्य्यकाही प्रतिषेध किया गया है। ब्रह्मका प्रतिषेध नहीं किया गया है, क्योंकि ब्रह्ममें ही सकल कल्पनाका विस्तार है। कल्पित असत् प्रपञ्च बाधित है, सत् वस्तु ब्रह्म अबाधित है।

अद्वैतवादिगण जगत्की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करते हैं। व्यावहारिकरूपसे जगत् सत्य है, परन्तु परमार्थतः सत्य नहीं है। परमार्थके विषयमें कहा है कि:—

एकरूपेण ह्यवस्थितो योऽर्थः स परमार्थः।

जो वस्तु सर्वदा सर्वत्र एक ही रूपमें रहता है, सोही सत्य और परमार्थ है। ब्रह्म सर्वदा निर्वाध, एक, अद्वितीय है, अतः ब्रह्म ही परमार्थ है। इसके विषयमें लिखा है कि:—

एकत्वमेव परं पारमार्थिकं दर्शयति।

एकत्व ही पारमार्थिक है, नानात्व व्यावहारिक है। अद्वैत

मतमें सत्य मिथ्याका लक्षण ऐसा किया है कि, भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान, त्रिकालमें और जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति तथा तुरीय दशामें जो वस्तु निर्बाध और एक रूपमें रहता है, वही सत्य वस्तु है और जिसमें परिवर्त्तन तथा बाध है, जो किसी कालमें है किसी कालमें नहीं है, किसी अवस्थामें है किसी अवस्थामें नहीं है, वह सब मिथ्या है। इस लक्षणके अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य वस्तु है, अन्य सब मिथ्या है। यथाः—

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः।

ब्रह्मव्यतिरेकेन कार्य्यजातस्याऽभावः विकारजातस्यानृतामिधानात्।

ब्रह्म ही सत्य है, कार्य मिथ्या है, क्योंकि कार्य्य विकार है, विकार मिथ्या है, ब्रह्मभिन्न और कुछ भी नहीं है, जो कुछ जगत्-रूपसे भ्रान्ति हो रही है, वह सब ब्रह्ममें नामरूपका भेदमात्र है। जिस प्रकार कुण्डल, वलय आदि बाह्य दृष्टिमें भिन्न होनेपर भी एक सुवर्ण ही हैं, उसी प्रकार वैचित्र्यमय संसार ब्रह्म ही है। केवल नाम तथा रूपका भेद है, वस्तुगत तात्त्विक कोई भेद नहीं है। यथाः—

वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

मिट्टीके विकारसे जो घट आदि बनते हैं, उनमें नामका ही भेद है, वास्तवमें सब मिट्टी ही है और मिट्टी ही सत्य है। यथाः—

अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्।

परमात्माने जीवरूपमें प्रवेश करके नाम और रूपका भेद सम्पादन किया है।

तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत।

नाम और रूपके द्वारा परमात्मासे द्वैतरूप संसारकी उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार उपनिषदोंके वचनोंके द्वारा सिद्ध होता है कि,

ब्रह्मको छोड़कर जीवभाव या जड़ किसीको पारमार्थिक सत्ता नहीं है। सबकी सत्ता व्यावहारिक है। जो जीव है, सोही ब्रह्म है। केवल नामरूपमयी मायाके विलाससे भिन्नता प्रतीत हो रहो है।

मायामय जीवके ब्रह्मभाव प्राप्त करनेके लिये वेदान्तशास्त्रमें तीन प्रकारको उपासना बताई गई है। यथा—अङ्गावबद्ध, प्रतीक और अहङ्ग्रह। अङ्गावबद्ध उपासनामें यज्ञके अङ्गोंमें ब्रह्मभावना कीजाती है। यथाः—

इदं उद्गीथं ब्रह्म इत्युपासीत।

इसमें उद्गीथ अर्थात् यज्ञके अङ्ग विशेषमें ब्रह्मभावनाका उपदेश किया गया है। द्वितीय प्रतीकोपासना है। इसमें ब्रह्मभिन्न पदार्थमें ब्रह्मभावना की जाती है। यथाः—

मनो ब्रह्म इत्युपासीत।

आदित्यो ब्रह्म इत्युपासीत।

मनमें ब्रह्मकी भावना कर उपासना करनी चाहिये, आदित्यमें ब्रह्मकी भावना कर उपासना करनी चाहिये, इत्यादि प्रतीक उपासनाका दृष्टान्त है। तृतीय अहङ्ग्रह उपासना है। यही अद्वैतवादियोंकी यथार्थ उपासना है इसमें "सोऽहं" "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि, जीव ब्रह्मसे अभिन्न भावनाके द्वारा उपासना होती है। यथाः—

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च।

जीवात्मा ही परमात्मा है, ब्रह्मसूत्रोक्त इस प्रकार मनन और भावना ही अद्वैतवादको उपासना है। यथाः—

तं यथा यथोपासते तदेव भवति।

जो जिसको उपासना करता है वह उसीका रूप प्राप्त होता है। इसलिये ब्रह्मभावनाके परिपाकसे साधक ब्रह्मभाव प्राप्त करते हैं। उस समय उनके लिये समस्त संसार ब्रह्ममय बन

जाता है और इस प्रकार स्वरूपस्थित राजयोगी आनन्दमय ब्रह्मपदमें प्रतिष्ठा लाभ करते हैं। स्वरूपस्थित इस प्रकारके योगी संसारकी ओर दृष्टि डालनेसे, प्रस्तरमें खोदी हुई मूर्त्ति जैसे प्रस्तर ही है; वैसे ही इस विचित्र समस्त संसारको ब्रह्ममय देखते हैं। और स्वरूपकी ओर भावना करनेसे माया और सृष्टिसे अतीत परमपदकी उपलब्धि करते हैं। इस प्रकारके योगियोंके शरीर जबतक संसारमें रहते हैं तबतक वे जीवन्मुक्त कहलाते हैं। जीवन्मुक्तके संस्कारके विषयमें ब्रह्मसूत्रमें कहा गया है कि:—

तदधिगम उत्तरपूर्व्वाघयोरश्लेषविनाशौ
तद्व्यपदेशात्।
इतरस्याप्येवं असंश्लेषः पाते तु।
अनारब्धकार्य्ये एव तु पूर्व्वे तदवधेः।

ब्रह्मकी उपलब्धि होनेसे तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुषके समस्त सञ्चित कर्म्मका विनाश और क्रियमाण कर्म्मका असंस्पर्श होता है। जिस प्रकार पद्मपत्रमें जलस्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानीको भी कर्म्म स्पर्श नहीं करता। वे पाप पुण्य दोनोंसे बाहर हो जाते हैं। केवल प्रारब्धकर्म्म ही अवशिष्ट रहता है, जिसको भोगके द्वारा जीवन्मुक्त क्षय करते हैं। यथाः—

तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये।

जबतक प्रारब्ध क्षय पूर्ण नहीं हो जाता है, तबतक जीवन्मुक्तका शरीर रहता है। तदनन्तर विदेहमुक्तिकी दशामें जीवन्मुक्त ब्रह्ममें मिलकर शरीरको त्याग कर देते हैं। ब्रह्मसूत्रमें लिखा है कि:—

विदुष ऐकान्तिकी कैवल्यसिद्धिः।
ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।

ब्रह्मज्ञानीकी ऐकान्तिकी कैवल्यसिद्धि या विदेहमुक्ति होती है। ब्रह्मको जान वे ब्रह्म होते हैं। इनके लिये उपनिषद्में लिखा है कि:—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः,
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

जिस प्रकार नदियें समुद्रमें मिलनेपर, उनका नामरूप और अस्तित्व समुद्रमें ही लयको प्राप्त होता है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी महात्मा नामरूपमय जीवभावको त्याग करके ब्रह्मानन्द महोदधिमें अपनी आत्माको विलीन कर देते हैं। यही वेदान्त दर्शनका लक्ष्य तथा वेदान्त प्रतिपाद्य सप्तम ज्ञानभूमिकी मुक्ति है।



स्मृतिशास्त्र।

वैदिक तत्वोंको स्मरण करके पूज्यपाद महर्षियोंने सकल अधिकारियोंके कल्याणके लिये जो ग्रन्थ प्रणयन किये हैं, उनको स्मृतिशास्त्र कहते हैं। स्वतन्त्र स्वतन्त्र कल्पमें जिस प्रकार वेदोंकी संख्या स्वतन्त्र स्वतन्त्र रीतिसे हुआ करती है, उसी प्रकार अनुशासन शास्त्रोंमें प्रधान स्मृति शास्त्रोंकी संख्या भी नियमित हुआ करती है। इस कल्पके स्मृतिग्रन्थोंकी संख्या ये हैं:—

मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः।
यमापस्तम्बसंवर्त्ताः कात्यायनबृहस्पती॥
पराशरव्यासशङ्खलिखिता दक्षगौतमौ।
शातातपो वसिष्ठश्च धर्म्मशास्त्रप्रयोजकाः॥

मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशना, अङ्गिरा, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शङ्ख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप और वसिष्ठ, ये धर्मशास्त्र (स्मृतिशास्त्र) के प्रयोजक हैं। ये प्रधान स्मृतियाँ हैं। तद्व्यतिरिक्त गोभिल, जमदग्नि, विश्वामित्र, प्रजापति, वृद्धशातातप, पैठीनसि, आश्वलायन, पितामह, बौधायन, भरद्वाज, छागलेय, जाबालि, च्यवन, मरीचि, कश्यप आदि ऋषियोंकी उपस्मृतियाँ भी हैं।

कहीं कहीं ऐसा मतभी देखनेमें आता है कि, प्रधान स्मृति दो हैं, उपस्मृति अट्ठारह हैं और औपस्मृति अट्ठारह हैं। प्रधानस्मृति याज्ञवल्क्य और मनु, एवं अट्ठारह उपस्मृतियोंके नाम हम ऊपर लिखचुके हैं, तथा कुछ औपस्मृतियोंके नाम भी गिना चुके हैं। कोई कोई श्रीमहाभारतको पञ्चमवेद कहते हैं और कोई कोई इसके

बहुतसे अंशको स्मृति भी कहते हैं एवं कोई कोई आचार्य्य इसी प्रकार सब पुराणोंके विशेष विशेष अंशको भी स्मृति कहते हैं। परन्तु प्राचीन कालमें ऊपरकथित तीन प्रकारकी स्मृतियाँ सूत्राकारमें प्रचलित थीं, इसके प्रमाण तो बहुत मिलते हैं। जिस प्रकार कल्पशास्त्र सूत्रबद्ध हैं, उसी प्रकार स्मृतिशास्त्र भी सूत्रबद्ध थे। स्मृतिसूत्र प्रायः लुप्त हो गये हैं परन्तु अब भी कई एक स्मृतियाँ सूत्राकारमें मिलती हैं। ऐसा कहा जाता है कि, मूलस्मृतिकारोंने स्मृतिशास्त्रको सूत्रबद्ध ही बनाया था, परन्तु परवर्त्ती कालमें अल्पबुद्धि मनुष्योंकी सहायताके अर्थ उनको शिष्यपरम्पराने स्मृतियोंको श्लोकबद्ध किया है। स्मृतियाँ बहुत हैं और एक एक विषयपर कई कई स्मृतियोंने सम्मतियां दी हैं, इस कारण इस समय ऐसे स्मृतिशास्त्रके संग्रहग्रन्थ बड़े उपकारी होंगे कि, जिनमें वर्त्तमान देश कालोपयोगी विषयोंका यथाक्रम समावेश हो। आजदिन स्मृतिशास्त्रका अधिक प्रचार न रहनेसे ही वर्णाश्रमधर्म, सदाचार तथा कर्म्म, उपासना आदिकी सुव्यवस्थामें फेर पड़ने लगा है। स्मृतिशास्त्रका अध्ययन अध्यापन कार्य्य जितना अधिकरूपसे प्रचलित होगा, उतनी ही आर्य्यजातिकी पुनरुन्नति हो सकेगी। यह स्मृतिशास्त्र-ज्ञानके लोप होनेका ही कारण देख पड़ता है कि, एक देशके ब्राह्मणके आचारसे दूसरे देशके ब्राह्मणका आचार नहीं मिलता और जो ब्राह्मण्य ब्राह्मणरूपसे सब एक ही थे, वे अब अपने अपनेको अलग अलग मानकर देश और जातिका अकल्याण कर रहे हैं। यह स्मृतिशास्त्रके ज्ञानके लोपका ही कारण है कि, सनातनधर्म्मका लक्षण तक लोग नहीं कह सकते। यह स्मृतिशास्त्रज्ञानके लोपका ही कारण है कि, चार वर्णोंसे अनन्त जातियाँ बन गई हैं। जहां तक हो सके स्मृतिशास्त्रके ग्रन्थोंका अनुसन्धान करना चाहिये और उनके छोटे बड़े संग्रहग्रन्थ बनने चाहियें।

पाठशालाकी निम्नश्रेणीसे लेकर उच्चश्रेणी पर्य्यन्तमें इस शास्त्रका अध्ययन कराना हितकारी होगा। इसी प्रकारसे इस सर्व्वजीव-हितकारी शास्त्रका जितना प्रचार होगा उतनी ही धर्म्मोन्नति हो सकेगी।

अन्य सब उपदेशोंके अतिरिक्त स्मृतियोंमें प्रति दिनके कार्य्यकलाप और सामाजिक रीतिका चित्र पूर्णतया प्रकटित किया गया है। जिस प्रकार जीवनचर्य्यासे सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन, लौकिक या पारलौकिक उन्नतिके शिखरपर पहुंच सकता है और जिस प्रकार निषिद्ध कर्म्मोंके त्यागसे मनुष्य अधोगतिसे बच सकता है, वे सभी विधिनिषेध स्मृतियोंमें स्पष्टरूपसे वर्णित हैं। प्रातःकालसे सन्ध्यापर्य्यन्त और सन्ध्यासे प्रातःकालपर्य्यन्त किस किस प्रकारके मनुष्योंका क्या क्या कर्त्तव्य है सो सभी इनमें वर्णित है। ब्राह्मण आदि चार वर्णोंके स्त्री पुरुषोंकी नित्य नैमित्तिक कर्म्मविधि बतानी ही स्मृतियोंका लक्ष्यीभूत है। स्वधर्म्मपालन और सदाचारपालनके विषयमें सभी स्मृतियोंने समानरूपसे शिक्षा दी है। बहुतसे अर्वाचीन पुरुष यह समझते हैं कि, ब्राह्मणोंने अपनी जीविका और प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिये ये स्मृतियाँ बनाई हैं। यह बात मिथ्या है, क्योंकि धीर होकर विचार करनेसे विदित होगा कि, स्मृतियोंमें यथार्थ ब्राह्मणोंकी जिस प्रकार प्रतिष्ठा की गई है, निन्दित धर्म्महीन ब्राह्मणोंकी उसी प्रकार निन्दा भी की गई है। मनुसंहितामें लिखा है किः—

सर्वस्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम्।
श्रैष्ठ्येनाऽभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति॥

संसारका सब धन ही ब्राह्मणका है, सकल वर्णोंमें श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित होनेसे सब धनमें ब्राह्मणका अधिकार है। इस प्रकारसे ब्राह्मणकी प्रतिष्ठा बताकर मनुजीने पुनः लिखा है किः—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥
यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला ।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥

लकड़ीसे बने हुए हाथी तथा चमड़ेसे बने हुए मृगके सदृश मूर्ख ब्राह्मण भी किसी कामके नहीं हैं। वे सब नामके ही हैं। क्लीबका स्त्रीसम्बन्ध, गौका गौसे सम्बन्ध तथा अज्ञको दान, जैसा निष्फल है, मूर्ख ब्राह्मण भी वैसा ही है। ब्राह्मणका सम्मान करना चाहिये, इस प्रकार सब वर्णोंको उपदेश करनेपर भी ब्राह्मणके लिये मनुजी लिखते हैं कि:—

सम्मानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥

ब्राह्मणको लौकिक सम्मानसे विषके सदृश नित्य पृथक् रहना चाहिये और अवमाननाको अमृतके समान चाहना चाहिये। आपस्तम्बसंहितामें भी लिखा है कि:—

अपमानात्तपोवृद्धिः सम्मानात्तपसः क्षयः ।
अर्चितः पूजितो विप्रो दुग्धा गौरिव सीदति ॥

अपमानसे ब्राह्मणकी तपोवृद्धि और सम्मानसे तपःक्षय होता है। जिस प्रकार दोहन करनेसे गौ क्षीण होती है, उसी प्रकार ब्राह्मण भी पूजित तथा सम्मानित होनेसे अवसादग्रस्त होते हैं। अतः इस प्रकार निष्पक्षपात तथा समतायुक्त उपदेशोंके ऊपर विचार करनेसे कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य स्मृतियोंपर पक्षपात दोष नहीं लगा सकते हैं। पाप करनेसे और वर्णोंको जितना दण्ड लिखा है, ब्राह्मणको दण्ड उससे कई गुणा अधिक स्मृतिकारोंने बताया है। सुरापानके दण्डमें मनुजी लिखते हैं कि :—

सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत्।
तया स कायेे निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः॥

यदि द्विजाति मोहसे कभी सुरापान करे तो उन्हें पापमोचनके लिये अग्निवर्ण गरम सुरापान कर दग्ध होना चाहिये। अन्यथा पाप नष्ट नहीं हो सकता है। परदारगमन करनेसे ब्राह्मणके लिये जो भीषण प्रायश्चित्त लिखा है, ऐसा और किसी वर्णके लिये नहीं है। इत्यादि विषय विचारने योग्य हैं। मनुसंहितामें उच्चवर्णके लिये पद पद नीच वर्णकी कन्याके साथ विवाह विहित होनेपर भी इसकी अत्यन्त निन्दा की गई है। यथाः—

हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम्॥
शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम्।
जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते॥

द्विज यदि मोहसे हीन जातीय स्त्रियोंके साथ विवाह करें तो सन्तानोंके साथ उनको शीघ्रही शूद्रत्व प्राप्ति होती है। शूद्राके साथ गमन करनेसे ब्राह्मणकी अधोगति होती है और उसमें पुत्र उत्पन्न करनेसे ब्राह्मणका ब्राह्मणत्व नहीं रहता है। असवर्ण पत्नीमें उत्पादित सन्तान वर्णसंकर होती है, उनको पिताका दर्जा नहीं प्राप्त होता। निषाद, चाण्डाल, वेण आदि इसी प्रकारसे उत्पन्न हैं। आचारभ्रष्ट सवर्णके साथ विवाहसे जो जाति उत्पन्न होती है उसे व्रात्य कहते हैं। संस्कार और क्रियाकाण्डके अभावसे बहुत सी जातियां शूद्रत्वको प्राप्त हो गयी हैं। मनुसंहितामें लिखा है किः—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणाऽदर्शनेन च॥

पौण्ड्रकाश्चौड्रद्राविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥

पौण्ड्रक, औड्र, द्राविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद व खश, इन देशोंके क्षत्रियलोग संस्कार और यजनयाजनादिकोंके अभावसे तथा ब्राह्मण दर्शन न होनेसे शूद्रत्वको प्राप्त हो गये हैं। राज्यशासनके विषयमें स्मृतियोंमें पूर्ण विधिका उपदेश किया गया है। वर्त्तमान नियमबद्ध अनुशासनप्रणाली प्राचीन महर्षियोंके मस्तिष्कमें किस प्रकार सुफलप्रदरूपसे उदय हुआ करती थी, मनुसंहिताके राजधर्मानुशासनका अध्याय पढ़नेसे इसका पूर्ण परिचय हो सकता है। उसमें शृङ्खलाबद्धरूपसे पृथक् पृथक् भागमें विभक्त करके पृथक् पृथक् पदधारियोंका नियोजन, क्रमोन्नत शासक व शासनव्यवस्था, पारस्परिक सहानुभूति व सहयोगिता, अधीनस्थ कर्म्मचारियोंके प्रति तीव्रदृष्टि, नियमबद्ध अनुशासनविधि, अत्याचारी होनेपर दण्डविधान आदि सकल प्रकारकी शासनप्रणाली बताई गई है। यह सब वृत्तान्त मनुसंहिताके सप्तम अध्यायमें द्रष्टव्य है। अपराधके तारतम्यानुसार दण्डका भी तारतम्य पूर्णरूपसे बताया गया है। अन्यवर्णोंके अपेक्षा द्विजातिका दण्ड कठिन था। इनमें भी ज्ञानके तारतम्यानुसार दण्डभेद था। चोरी करना पाप है इसको जानकर भी कोई शूद्र चोरी करे तो साधारण चोरकी अपेक्षा उसको आठगुणा अधिक दण्ड मिलेगा। वैश्य चोरको सोलहगुणा, क्षत्रिय चोरको बत्तीसगुणा और ब्राह्मण चोरको चौंसठगुणा अधिक दण्ड मिलेगा। इस प्रकार दण्डविधान स्मृतियोंमें मिलते हैं। इन सब प्रमाणोंसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि, जगत्पूज्य ब्राह्मणगण धर्मवर्णन करते समय कैसे निष्पक्षपात हुआ करते थे।

राजकरग्रहणके विषयमें मनुजीने बहुत विचार करके, जिसमें

प्रजाको कुछ भी कष्ट न हो, ऐसा ही "कर" लेनेकी आज्ञा की है। धान्य आदि शस्यका षष्ठ, अष्टम या द्वादश अंश और पण्यद्रव्यका षष्ठ अंश राजाका प्राप्य है। राजकार्य्यपरिचालनमें मन्त्री, ब्राह्मण और सदस्योंकी मन्त्रणा लीजानी चाहिये, इससे आचाररक्षा, धर्मरक्षा व राज्यरक्षा होती है, इस प्रकार उपदेश सब संहितामें ही प्रायः एकसा मिलता है। कहीं कहीं भेद होनेपर भी केवल देशकालनिमित्त है। इस प्रकारसे सब स्मृति ही प्रामाणिक हैं। अर्वाचीन लोगोंने जो कहीं सन्देह करके कुछ कुछ स्मृतियोंका अप्रामाण्य मान रक्खा है वह उनकी भूल है। उन सब प्रमाणोंपर विचार करनेसे देश काल और अधिकारीभेदसे सब प्रमाणही यथार्थ और हितकारी प्रतीत होंगे। अतः इस प्रकार सन्देह करना निरर्थक है। स्मृतिशास्त्र सकल अधिकारियोंके लिये सर्वथा कल्याणप्रद है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

पुराणशास्त्र।

दर्शनशास्त्र, स्मृतिशास्त्र आदिकी तरह पुराणशास्त्र भी बहुत ही उपयोगी शास्त्र है। क्योंकि, वेदमें जो अतिगूढ़तत्वसमूह कठिन वैदिक भाषा तथा कठिन भावके द्वारा वर्णित किये गये हैं पुराणमें उन्हीं गूढ़ तत्वोंको सरल, मधुर भाषा तथा भावके द्वारा बताया गया है। इस कारण वैदिक तत्वोंके हृदयङ्गम करनेमें पुराणोंकी उपकारिता सर्ववादिसम्मत है और इसीलिये ही वेदमें पुराणके लिये इतने प्रमाण मिलते हैं। यथा छान्दोग्योपनिषद्में—

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणं।
चतुर्थमितिहासं पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम् ॥ इत्यादि।

मैं ऋग्यजुःसाम और आथर्व्ववेदको जानता हूं और पांचवां वेद इतिहास पुराण भी मैं जानता हूं। मनुसंहितामें भी लिखा है कि:

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणान्यखिलानि च॥

श्राद्धमें वेद, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास, पुराण आदि सबको सुनाना चाहिये।

पुराण भारतवासियोंके अतिप्रिय हैं। अब भी यही देखनेमें आता है कि, भारतवर्षके सब प्रदेशोंमें सब ग्रन्थोंसे पुराण ग्रन्थोंका प्रसार अधिक है। इस प्रकारके धर्मग्रन्थोंका आदर केवल भारतवर्षमें ही नहीं, किन्तु विचारसे यही प्रतिपन्न होगा कि, पृथिवीके सकल धर्म्मावलम्बियोंमें ही इस रीतिके ग्रन्थ प्रचलित हैं और साधारण लोगोंमें इसी प्रकारके ग्रन्थोंका अधिक सम्मान देखनेमें आता है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि, धर्मके गम्भीर ग्रन्थोंके विचार करनेमें साधारण लोगोंकी रुचि उतनी नहीं होती,

जितनी सरल इतिहासपूर्ण धर्मग्रन्थोंके पाठ करनेमें होती है। देखिये, ईसाई धर्ममें यदि व ईसूमसीहके कोई इस प्रकारके पुराण ग्रंथ नहीं देखनेमें आते हैं परन्तु उनके देहत्यागके पीछे उनके शिष्यों द्वारा बहुतसे इस रीतिके ग्रन्थ प्रकाशित हुए थे और अभी तक ईसाइयोंमें उनका प्रचार भलीभांति है। इसी प्रकार यदि महम्मदी धर्मावलम्बियोंके लिये कुरान ही प्रधान ग्रन्थ है तथापि उनके भक्तगणके ऐतिहासिक ग्रन्थ भी बहुत आदरके साथ उक्त धर्मावलम्बियोंमें प्रचलित हैं। और बौद्ध जैन धर्मावलम्बियोंका तो कहना ही क्या है, क्योंकि इनके धर्मग्रन्थोंमें अधिकांश ग्रन्थ हमारे पुराण ग्रन्थोंके अनुकरण ही पर बनाये गये हैं, और उनका आदर इन सम्प्रदायोंके और और ग्रन्थोंसे अधिक है।

शास्त्रकारोंने पुराणके लक्षण इस प्रकार लिखे हैं कि:—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानां वंशचरितं पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

महापुराणोंकी सृष्टि, समस्त चराचरकी सृष्टि, वंशावली, मन्वन्तरवर्णन और प्रधान वंशोंके व्यक्तियोंका क्रमशः विवरण, पुराणोंके ये पांच लक्षण हैं। ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें महापुराणके लक्षण लिखे हैं कि:—

सृष्टिश्चापि विसृष्टिश्च स्थितिस्तेषाञ्च पालनम्।
कर्म्मणां वासनावार्त्ता मनूनाञ्च क्रमेण च॥
वर्णनं प्रलयानाञ्च मोक्षस्य च निरूपणम्।
उत्कीर्त्तनं हरेरेव देवानाञ्च पृथक् पृथक्॥

मूलसृष्टि, विशेष विस्तृत सृष्टि, जगत्‌की स्थिति, जगत्‌का पालन, कर्म्मवासना, मनुओंका प्रकाश-क्रम, प्रलय, मोक्ष, हरिकीर्तन, देवताओंके पृथक् पृथक् गुणवर्णन, ये दश लक्षण महापुराणके हैं। लक्षणोंको देखनेसे ही स्पष्ट सिद्ध होता है कि, किन किन

आवश्यकीय उद्देश्योंके साधनके लिये हमारे त्रिकालदर्शी ऋषियोंने पुराण प्रकाशित किये थे। चिरंजीवी पुराणशास्त्रने चिरकालसे ही हमारे सनातनधर्मकी पूर्ण रक्षा की है। और आजदिन इस आपत्कालमें भी सब प्रकारके अधिकारियोंका पितृवत् पालन कर रहा है। श्रीभगवान वेदव्यासजी कहते हैं कि; महापुराण अष्टादश हैं। यथाः—

अष्टादश पुराणानि पुराणज्ञाः प्रचक्षते।
ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं भागवतं तथा॥
तथाऽन्यं नारदीयञ्च मार्कण्डेयञ्च सप्तमम्।
आग्नेयमष्टमञ्चैव भविष्यं नवमं स्मृतम्॥
दशमं ब्रह्मवैवर्त्तं लैङ्गमेकादशं स्मृतम्।
वाराहं द्वादशञ्चैव स्कान्दं चैव त्रयोदशम्॥
चतुर्दशं वामनञ्च कौर्म्मं पञ्चदशं स्मृतम्।
मात्स्यं च गारुडञ्चैव ब्रह्माण्डञ्च ततः परम्॥

ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, भागवत, नारदपुराण, मार्कण्डेयपुराण, अग्निपुराण, भविष्यपुराण, ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, लिङ्गपुराण, वाराहपुराण, स्कन्दपुराण, वामनपुराण, कूर्म्मपुराण, मत्स्यपुराण, गरुड़पुराण, ब्रह्माण्डपुराण, यही अठारह महापुराण हैं। उसीप्रकार उपपुराण भी अष्टादश हैं। वेदव्यासजीने कहा कि:—

आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहमथाऽपरम्।
तृतीयं वायवीयं च कुमारेणाऽनुभाषितम्॥
चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नन्दीशभाषितम्।
दुर्वाससोक्तमाश्चर्यं नारदीयमतः परम्॥
नन्दिकेश्वरयुग्मञ्च तथैवोशनसेरितम्।
कापिलं वारुणं साम्बं कालिकाह्वयमेव च॥

माहेश्वरं तथा देवि ! दैवं सर्व्वार्थसाधकम्।
पराशरोक्तमपरं मारीचं भास्कराह्वयम्॥

सनत्कुमारोक्त आद्य, नारसिंह, कुमारोक्त वायवीय, नन्दीशभाषित शिवधर्म्म, दुर्व्वासा, नारदीय, नन्दिकेश्वरके दो, उशना, कापिल, वारुण, साम्ब, कालिका, माहेश्वर, दैव, पाराशर, मारीच, भास्कर ये अष्टादश उपपुराण हैं। इनमेंसे महापुराण और उपपुराण होनेके विषयमें किसी किसी पुराणके नाममें साम्प्रदायिक मतभेद हैं। यथा-भागवतपुराण, शैव और देवीके उपासकगण देवी भागवतको महापुराण कहते हैं और विष्णुके उपासकगण इसके विरुद्ध विष्णुभागवतको महापुराण कहते हैं। ऊपरलिखित छत्तीस पुराणोंके अतिरिक्त और भी बहुत पुराणोंके नाम मिलते हैं वे सब औपपुराण कहाते हैं। औपपुराणोंकी भी संख्या अष्टादश है। इस प्रकारसे पुराण शास्त्र, महापुराण, उपपुराण, औपपुराण, इतिहास, और पुराणसंहिता, इन पांच भागोंमें विभक्त हैं। पुराणग्रन्थ भी बहुत लुप्त होगये हैं और एक विशेष असुविधा इन शास्त्रोंमें यह हुई है कि इनमें कई एक कारणोंसे स्थान स्थानपर प्रक्षिप्त अंश बढ़ा दिये गये हैं जो अवस्थाभेदसे हानिकारक भी हैं। पुराणोंके अतिरिक्त जो इतिहासग्रन्थ हैं वे भी पुराणके ही अन्तर्गत हैं। यथा-श्रीमहाभारत और श्रीमद्रामायण। हरिवंश महाभारतके अन्तर्गत माना गया है। पुराण और इतिहासशास्त्रोंको किसी किसी आचार्य्योंने इस प्रकारसे भी विभक्त किया है। यथा-कर्म्मविज्ञानप्रधान श्रीमहाभारत, ज्ञानप्रधान श्रीरामायण और पञ्चोपासनाप्रधान अन्यपुराण। वास्तवमें अन्य पुराणोंमें प्रायः पञ्चोपासनाकी पुष्टि की गई है। जगज्जन्मको आदिकारण मानकर ही कहीं श्रीविष्णु, कहीं श्रीसूर्य्य, कहीं श्रीभगवती, कहीं श्रीगणपति, और कहीं श्रीसदाशिवकी उपासनाका समर्थन किया गया है।

पुराण और इतिहासका प्रधानतः पार्थक्य यह है कि इतिहासमें प्राचीन आख्यायिका अधिक, और सृष्टि आदिका तत्त्व कम बताया जाता है एवं पुराणमें सृष्टि आदिका वृत्तान्त अधिक और प्राचीन इतिवृत्त कम बताये जाते हैं। परन्तु इतिहासमें भी पुराणका अंश और पुराणमें भी इतिहासका अंश बहुत रहता है। जैसा कि महाभारतके शान्तिपर्वमें भीष्मदेवके उपदेशमें पुराणके अंश बहुत हैं और श्रीमद्भागवतमें कृष्णलीला आदि इतिहासका अंश बहुत है। इसलिये इतिहासमें कौन अंश पुराणका है और पुराणमें कौन अंश इतिहासका है इसको ठीक ठीक जानकर पढ़ना चाहिये। अन्यथा भ्रान्ति होती है। इसके सिवाय समाधि-लौकिक-परकीय नामक त्रिविध भाषाओंका वैचित्र्य, अध्यात्म-अधिदैवादि त्रिविध भाववैचित्र्य, वर्णनवैचित्र्य, अलंकारवैचित्र्य आदिके कारण भी पुराणोंके यथार्थ रहस्य समझनेमें बहुधा भ्रान्ति होती है, जिसका दिग्दर्शन पूर्वक निराकरण ग्रन्थान्तरमें किया गया है। *

पौराणिक वर्णनशैलीका रहस्यज्ञान न होनेसे बहुत स्थानोंपर ऐतिहासिक तथा भौगोलिक वर्णनोंके साथ पौराणिक वर्णनोंका असामञ्जस्य प्रतीत होता है, जो वर्णनरहस्यज्ञानसे दूर हो सकता है। नीचे कुछ दृष्टान्त देकर यह बातें समझाई जाती हैं।

आजकलके भूगोलमें लिखा है कि, पृथिवीका व्यास ८००० हजार मीलका है। इसको भूगोलवेत्ताओंने नाप करके देख लिया है। अतः यह अप्रमाण सिद्ध हुआ है। परन्तु पुराणोंमें लिखा है कि, पृथ्वीका परिमाण पचास कोटि ५०००००००० योजन है, इसलिये लोग इसमें संदेह करते हैं। अब इसका समाधान किया जाता है।

* 'नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत' तथा 'प्रवीण दृष्टिमें नवीन भारत' ग्रन्थ द्वय द्रष्टव्य हैं।

पुराणोंमें जो पृथिवीका परिमाण लिखा है और भूगोलवेत्ताओंने जो परिमाण लिखा है, वे दोनों सत्य हैं, केवल परिमाण करनेकी रीति पृथक् पृथक् है। भूगोलवेत्ताओंने जो पृथ्वीका नाप किया है सो पृथ्वीकी मध्यरेखा अर्थात् व्यासका है जो आठ हजार मील है। परन्तु पुराणोंमें समस्त पृथिवीकी भूमिका नाप घनफल निकालकर बताया है। किसी गोल पदार्थके घनफल निकालनेके लिये शास्त्र-में यह युक्ति रक्खी गयी है कि, उस गोल पदार्थके व्यासको तीन बार गुणा अर्थात् घन करके उसका आधा हिस्सा लिया जाय। इसी तरह हिसाब करनेसे सिद्ध होगा कि, पृथ्वीके व्यासका परि-माण जब आठ हजार मील है और दो मीलमें एक कोस और चार कोसका एक योजन होता है तो, आठ हजार मीलका एक हजार योजन हुआ जो कि पृथ्वीका व्यास है। इसलिये पृथ्वीकी समस्त भूमिका परिमाण घनफलके हिसाबसे $\frac{१०००\times१०००\times१०००}{२}=$ ५०००००००० अर्थात् पचास कोटि योजन होगा, जिसको पुराणमें बताया गया है। इसलिये पुराणके वर्णनमें कोई असामञ्जस्य नहीं है यह सिद्ध हुआ।

द्वितीय दृष्टान्त, यथा-चन्द्र सूर्यका ग्रहण। भूगोलमें लिखा है कि, पृथिवीकी छाया चन्द्रपर पड़नेसे चन्द्रग्रहण और चन्द्रकी छाया सूर्यपर पड़नेसे सूर्य ग्रहण होता है, परन्तु पुराणमें लिखा है कि, राहुनामक एक असुर चन्द्र और सूर्यको जब ग्रस लेता है, तभी चन्द्र-ग्रहण और सूर्यग्रहण होता है। जब पहली बात दूरवीक्षणयन्त्र द्वारा ठीक ठीक देख ली गयी है, तो पौराणिक बात कैसे मानी जा सकती है यही शङ्का है। इसका समाधान किया जाता है। राहुका ग्रास या छायाका पात दोनोंमें कोई भेद नहीं है, भेद केवल आस्ति-कता और नास्तिकताका है। आस्तिक पौराणिकोंने दैव सम्बन्धसे

छायाका वर्णन किया है। और भूगोलवेत्ताओंने उस सम्बन्धको उड़ाकर केवल छायाका ही वर्णन किया है। यह बात पहले ही वेदाङ्गके अध्यायमें कही गयी है कि, प्रकृतिके जड़ होनेसे समी प्राकृतिक वस्तुएं जड़ हैं, इसलिये उन हर एक वस्तुओंको चलानेवाली अलग अलग चेतन शक्ति है, ये सब शक्तियां भगवान्‌की शक्तियां हैं। जिस प्रकार किसी बड़े राज्यको शासन करनेके लिये राजाको शक्तिको लेकर भिन्न भिन्न विभागमें भिन्न भिन्न जज, मजिष्ट्रेट, मुन्सिफ कोतवाल आदि अधिष्ठातागण राज्यका शासन करते हैं, ठीक उसी प्रकार प्रकृतिके विराट् राज्यमें प्रकृतिके राजा भगवान्‌की शक्ति लेकर जड़-प्रकृतिके भिन्न भिन्न विभागमें बहुतसे देवता लोग अधिष्ठाता बनकर शासन करते हैं। कोई जड़ वस्तु कोई काम नहीं कर सकती है, जबतक उसको चलानेवाली चेतनशक्ति देवता न हो। जैसे समस्त संसारमें जितना जल है, उसके चलानेवाली शक्तिका नाम वरुण है, जिनके रहनेसे जलके द्वारा संसारका ठीक ठीक काम होता है, यदि न रहते तो जलका काम ठीक ठीक नहीं चलता। इसी प्रकार पवनमें जो देवता हैं उनको पवन देवता कहा जाता है, उनके रहनेसे वायु द्वारा समस्त संसारका ठीक ठीक कार्य चलता है। इसी प्रकारसे प्रकृतिकी प्रत्येक जड़वस्तुपर एक एक चेतन दैवीशक्ति, उस जड़वस्तुको चलाती है। अब प्रकृति अनादि अनन्त और असीम है, तो प्रकृतिमें जड़वस्तुकी संख्या भी अनन्त है। इसलिये उन जड़वस्तुओंके ऊपर जो दैवी चेतनशक्तियां काम कर रही हैं उनकी संख्या भी अनन्त है, इसलिये देवता अनन्त हैं। पुराणमें जो ३३ कोटि देवताका वर्णन है वह अनन्तताका वाचक है, जैसा कि कोई कहते हैं कि—"सभामें हजारों मनुष्य आये थे" इसका अर्थ यह नहीं है कि, हजार ही मनुष्य थे, परन्तु इसका तात्पर्य यह है कि, बहुत मनुष्य थे। 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः

सदृशपणात् इत्यादि वर्णनोंमें भी सदृश शब्दसे विराट्पुरुषके अनन्त हस्तादिकों की बात कही गयी है। ठीक उसी प्रकार यहां तैंतीस ३३ करोड़से करोड़ों अर्थात् अनन्त समझना चाहिये। अनन्त होनेपर भी ३३ तैंतीस करोड़ कहनेका कारण यह है कि—

प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति।

प्राधान्यसे ही गिनती होती है। अनन्त देवताओंमें ३३ तैंतीस प्रधान हैं, यथा अष्ट वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, इन्द्र, प्रजापति, इस प्रकारसे तैंतीस ३३ और तैंतीससे अनन्त देवता प्रकृतिके अनन्त जड़ विभागोंपर चेतन परिचालकरूपसे विराजमान हैं। अब द्वितीय विचारका विषय यह है कि, प्रकृतिके अनन्त विभाग होनेपर भी साधारणतः इसमें दो विभाग हैं। एक सात्विक, द्वितीय तामसिक, इसको ज्ञान और अज्ञान अथवा प्रकाश या अन्धकार भी कह सकते हैं। दैवीशक्ति जिस प्रकार अनन्तरूपसे प्रकृतिके प्रकाशमय सात्विक विभागपर प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार प्रकृतिके अन्धकारमय तामसिक विभागके अनन्त रूपोंपर अनन्त चेतन शक्तियां काम कर रही हैं, जिनको अनन्त आसुरीशक्ति या असुर कहते हैं। यही देवता और असुरोंमें भेद है। देवता सात्विक विभागमें, असुर तामसिक विभागमें, देवता ज्ञानके विभागमें, असुर अज्ञानके विभागमें, देवता प्रकाशके विभागमें, असुर अन्धकार या छायाके विभागमें, चेतनशक्तिरूपसे विराजमान हैं। पूर्व सिद्धान्तके अनुसार जिस प्रकार जड़ प्रकाशके ऊपर सूर्य्य, चन्द्र, अग्नि आदि चेतन देवताओंके बिना प्रकाश कोई काम नहीं कर सकता है, ठीक उसी प्रकार अन्धकार या छायाके ऊपरचेतन आसुरीशक्ति अर्थात् राहुके बिना छाया चन्द्रगोलक सूर्य्यगोलक या किसी वस्तुको आच्छन्न नहीं कर सकती है। आधुनिक भूगोलवेत्ताओंने केवल जड़ छायाकोही कार्यकारी मानकर छायाके बीच जो शक्ति है, उसकोन जानकर छाया

पातसे ही सूर्य और चन्द्रका ग्रहण बताया है। किन्तु आस्तिक और ज्ञानदृष्टि होनेके कारण प्राचीन ऋषियोंने छायाके बीच जो चेतन आसुरीशक्ति राहुरूपसे काम कर रही है उसीसे चन्द्र-सूर्यका ग्रहण बताया है यथा श्रुतिमें-"यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाऽविध्यदासुरः" असुर राहु छायासे सूर्यको आवृत करता है। इस प्रकारसे विचार करनेपर सभी पौराणिक वर्णनोंके साथ भौगोलिक वर्णनोंका सामञ्जस्य निर्णय हो जायगा।

और भी शंका भागवत आदि पुराणोंकी ऐतिहासिक सत्यता पर होती है। यथा—कश्यप, दिति, अदिति, विनता, कद्रू, शरमा आदि नर-नारियोंसे दैत्य, दानव, पक्षी, सर्प, हाथी, घोड़े आदि उत्पन्न हुए हैं, ऐसा भागवतमें लिखा है। मानवी स्त्रीके पेटमें घोड़े, हाथी कैसे उत्पन्न हो सकते हैं, यह शंका है। अतः इसका समाधान किया जाता है। सृष्टिके रहस्य बड़े विचित्र हैं। सृष्टि केवल रजोवीर्यसे ही नहीं हुआ करती है। परन्तु वैजी और मानसी दो प्रकारकी सृष्टि हुआ करती है। सृष्टिके विज्ञानपर विचार करनेसे सिद्धान्त होगा कि, सृष्टि स्त्रीशक्ति और पुरुषशक्तिके मेलका ही फल है। यह मेल मनकी शक्तिके अनुसार स्थूल सूक्ष्म दोनों प्रकारसे ही हो सकता है।

मनसा साधु पश्यति।

मानसाः प्रजाः असृजन्त। इत्यादि॥

इन श्रुतिवचनोंसे भी मानसी सृष्टिका विज्ञान सिद्ध होता है। स्थूल शरीर जब पाञ्चभौतिक है, तो पञ्चभूतपर अधिकार जमजानेसे योगीलोग जब चाहें तब पञ्चभूतोंको इकट्ठा करके शरीर बनासकते हैं। जबतक जीवका सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीरके साथ वासनाबद्ध रहता है तबतक जीवमें यह शक्ति उत्पन्न नहीं होती। सूक्ष्म शरीरके स्थूल शरीरसे पृथक् होते ही वह शक्ति उत्पन्न होती

है । इसमें अधिक कहना ही क्या है, प्रेतका शरीर स्थूल शरीरसे पृथक् होनेके कारण प्रेतमें भी चित्तकी तीव्रताके अनुसार स्थूल शरीर धारण करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है, इस विषयको आजकल अमेरिकामें यन्त्रके द्वारा सिद्ध कर दिखाया गया है। जहां प्रेतके फोटो-तक उतार लेते हैं। जिन चीजोंसे रजोवीर्य्य बनता है वे भी पञ्चभूत ही हैं। इसलिये जिनके चित्तमें इतनी शक्ति है कि, पञ्चभूतमेंसे शरीरके लिये रजोवीर्य्यके मसाले भी एकत्र कर लेवें, उनको स्थूल मैथुनी सृष्टि नहीं करनी पड़ती। अब प्रलयके समय स्थूल वस्तु कुछ भी नहीं रहती है, तो प्रलयके पश्चात् सृष्टिके समय जो स्त्री पुरुष उत्पन्न किये गये थे वे अवश्य किसी मानसिक सृष्टिहीका फल था, महाभारतके शान्तिपर्वमें लिखा है कि:—

आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्ममूलाऽक्षयाऽव्यया ।
सा सृष्टिर्मानसीनाम धर्म्मतन्त्रपरायणा ॥

प्रथम ऋषियोंकी सृष्टि ब्रह्माजीकी मानसी सृष्टि है। सृष्टि पूर्वकल्पके अनुसार हुआ करती है, इसलिये जिनके संस्कार पूर्वकल्पके अनुसार प्रथम ऋषि बननेके योग्य थे उनके सूक्ष्म शरीरपर संस्कार-के अनुसार मनके ही बलसे पञ्चभूतोंको इकट्ठा करके ब्रह्माजीने उन ऋषियोंका स्थूल शरीर बना दिया। ये सब ऋषि सत्युगके प्रथम कालके ऋषि थे, इसलिये वे भी जितेन्द्रिय और मानसिक शक्ति-सम्पन्न थे; अतः उन लोगोंने भी जो कुछ सृष्टि की वो मनके ही बलसे भिन्न भिन्न जीवके सूक्ष्म शरीरपर पञ्चभूतोंको एकत्र करके सृष्टि की। इस प्रकारसे वैजी सृष्टि न होकर मानससृष्टि सत्व-सम्पन्न ऋषियोंके द्वारा सत्ययुगके प्रथमकालमें बनी। भागवतमें जो कश्यपसे, दितिसे, अदितिसे, विनतासे, कद्रूसे, सृष्टिका वर्णन मिलता है वो सब मानसी सृष्टिका ही वर्णन है। स्थूल वैजो सृष्टिका नहीं। इस प्रकारकी मानससृष्टिसे पूर्वोक्त स्त्रियोंके

सम्बन्धका तात्पर्य्य यह है कि, उक्त मानस सृष्टि करनेवाले महर्षियों ने उन स्त्रियोंकी सहायतासे अपनी मानसिक शक्तिको पूर्णता प्राप्त की थी। इस प्रकार जब तक मनुष्योंके मनकी शक्ति पूरी रही और योग शक्ति या संयमशक्ति भी पूर्ण रही तबतक मानसिक सृष्टि बनती थी। पश्चात् जब मनुष्योंका मन कुछ कुछ दुर्बल होने लगा, तो मानसिक सृष्टिकी शक्ति नष्ट हो गई। उस समय यज्ञादि द्वारा दैवीशक्तिको अपने अनुकूल करके उससे बहुत सृष्टि हुई। यज्ञ धूम या चरुमें देवताओंकी शक्तिसे पाञ्चभौतिक परिवर्त्तन होनेसे उस द्रव्यमें ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती थी कि, उसमें रजोवीर्य्यका पूर्ण गुण आजाया करता था, इसलिये उसके ग्रहण करनेसे स्त्रियां अन्तःसत्त्वा हो जाया करती थीं। विश्वामित्र, परशुराम, रामचन्द्र-जी आदिकी उत्पत्ति इसी प्रकारकी थी। यह द्वितीय युगकी बात है। पश्चात् तृतीय युगमें यज्ञ करनेकी भी शक्ति धीरे धीरे नष्ट होने लग गयी, क्योंकि याज्ञिक ब्राह्मणोंकी तपस्या, यजमानका संयम, जितेन्द्रियता आदि नष्ट होकर विषयवृद्धि बढ़ने लग गई। इसलिये यज्ञ करनेपर भी उसमें पूर्ण फल प्राप्त नहीं होता था, जिससे याज्ञिकसृष्टि नष्ट होने लगगई। तब केवल मैथुनीसृष्टिका अन्तिम उपाय रह गया, परन्तु ऐसा होनेपर भी उस कालके मनुष्य पत्नी को प्रायः मातृवत् देखते थे, ब्रह्मचर्य्यका पालन आचार्य्यकुलमें आकर ठीक ठीक किया करते थे, जिससे पुरुष अमोघवीर्य्य हुआ करते थे, उनके वीर्य्य कभी निष्फल नहीं हुआ करते थे और वीर्य्यमें शक्ति अधिक होनेसे धार्मिक और वीर पुत्र उत्पन्न हुआ करते थे। अब दुरन्त कलि आगया जिसके प्रभावसे चारों ओर पापका प्रवाह बह रहा है, पर-स्त्रीपर कामदृष्टि, व्यभिचार, अप्राकृतिक वीर्य्य-नाश, ब्रह्मचर्य्यहीनता धातु-दौर्बल्य आदि समस्त पाप बढ़ गया है, इसलिये आजकल वीर्य्यमें मैथुनीसृष्टिकी भी शक्ति नहीं रही।

इसलिये बहुधा स्त्री बन्ध्या और पुरुष जननशक्तिहीन हुआ करते हैं। यही सृष्टिका ऐतिहासिक तत्त्व है, जिसको पुराणके द्वारा ऋषियोंने प्रकट किया है।

भौगोलिक तथा ऐतिहासिक वर्णनोंकी तरह विविध भाषा और विविध भावानुसार भी अनेक विचित्र वर्णन पुराणोंमें देखनेमें आते हैं, जिनके रहस्य न समझनेसे साधारणतः असमञ्ज वर्णन प्रतीत होता है। इसलिये नीचे भाषा तथा भावके सम्बन्धमें भी कुछ दृष्टान्त दिये जाते हैं।

शिवपुराणमें एक कथा आती है कि, नारायण जलके भीतर सोये हुए थे, उनके नाभिकमलसे ब्रह्माजी प्रकट हुए, फिर दोनोंमें इस बातपर लड़ाई होने लगी कि, कौन बड़े हैं, उनकी लड़ाई हो रही थी, इतनेमें उनके बीचमें शिवजीका प्रचण्ड ज्योतिर्लिङ्ग प्रकट हुआ, जिसका पता लगानेके लिये ब्रह्माजी ऊपरकी ओर और विष्णुजी नीचेकी ओर गये, परन्तु किसीको पता नहीं चला जिससे उन लोगोंको मालूम हुआ कि, हम दोनोंसे भी बड़ा तीसरा कोई है, इस बातको जानकर दोनोंने विवाद छोड़ दिया, इत्यादि, इत्यादि। इस लौकिकभाषाकी वर्णनका तात्पर्य्य यह है कि, विराट्रूपी श्रीभगवान्के अनादि अनन्त स्वरूपके द्वारा ही उनके अचिन्तनीय ब्रह्मस्वरूपका अनुभव होता है, अर्थात् यह अनादि अनन्त शरीरधारी विराट्पुरुष ही सच्चिदानन्दमय ब्रह्मका लिङ्ग है। लिङ्ग शब्दका अर्थ चिह्न है, अर्थात् जिस स्थूल चिह्नके द्वारा किसी पदार्थका बोध हो, उसको लिङ्ग कहते हैं। यह कथा जब शिवपुराणकी है और पुराण जब भावप्रधान ग्रन्थ है, तो शिवपुराणके शिवजी साधारण शिव नहीं हैं, परन्तु परमात्मा हैं। शिवजी मनुष्यकी तरह शरीरधारी नहीं हैं, उनका शरीर और प्रकारका है। लिङ्ग उसे कहते हैं कि, जिससे किसी वस्तुका लक्षण मालूम हो, अर्थात्

लिङ्ग लक्षणका वाचक है, जैसा कि न्यायदर्शनमें लिखा है कि, "इच्छा द्वेष सुख दुःख" आत्माका लिंग है, इससे यह न समझना चाहिये कि, आत्मा कोई स्थूल वस्तु है और उसके ऊपर इच्छा द्वेष सुख दुःख आदि कोई मनुष्यकी इन्द्रियोंके सदृश पदार्थ है। परन्तु इसका तात्पर्य यह है कि, ये सब न्यायदर्शनके अनुसार आत्माके लक्षण हैं। ठीक उसी प्रकार शिवपुराणमें जो शिवरूपी परमात्माका लिंग प्रकट हुआ उससे यह आध्यात्मिक भाव बताया गया है कि, परमात्माका क्या लक्षण है और उसको कौन जान सकता है। शिवपुराणमें शिवजीकी मुखवता और परमात्माका भाव होनेसे परमात्माका लिंग अर्थात् लक्षण अनादि अनन्त है, जिसको जीवकी तो बात ही क्या, परन्तु ब्रह्मा विष्णुतक भी पता नहीं लगा सकते हैं। इसलिये सर्व शक्तिमान् सर्वव्यापक परमात्माके राज्यमें किसीको यह अहंकार नहीं करना चाहिये कि, हम बड़े हैं। यही आध्यात्मिक भाव लौकिक भाषाके द्वारा प्रकट किया गया है। इसमें जो जलकी बात लिखी है सो स्थूल जल नहीं है, परन्तु कारण वारि अर्थात् समष्टि जीवोंका कर्म्म-संस्कार है। उन्हीं कर्म्म-संस्कारोंके बीजमें संस्कारोंसे सृष्टि करनेके लिये चेतनशक्ति नारायण रहते हैं। उन्हींकी चेतनशक्तिसे समष्टि संस्कार जब फलाभिमुखीन होते हैं तभी विकारहीन अर्थात् अव्याकृत प्रकृतिमें विकारकी सूचना अर्थात् व्याकृतावस्था होती है। उसी व्याकृतावस्था प्रकृतिको ही कमल कहा गया है और वह विष्णुजीकी केन्द्रीभूत चेतनशक्ति (Central living Energy) का ही फल है। इसलिये विष्णुजीकी नाभिसे ही कमलकी उत्पत्ति कही गयी है, जिसमें ब्रह्माजी उत्पन्न होते हैं। यह शिवपुराणमें वर्णित इस लौकिक भाषाका आध्यात्मिक तत्त्व है।

इन सब लौकिकभाषाकी वर्णनशैलीरूप कथाओंके द्वारा विचारवान् पुरुष समझ सकते हैं कि, ऋषियोंने किन किन गम्भीर भावोंको

किस प्रकार सरलता और मनोहरताके साथ लौकिकभाषामें वर्णन किया है। विद्वानोंकी विद्वत्ता यह है कि, अपनी बुद्धिको स्थिर, धीर और संयत करके इन तत्त्वोंको विचारकर देखें और इनका आनन्द लेवें। इनके उड़ा देनेमें कोई योग्यताका परिचय नहीं है। पुराणोंमें ऐसी सैकड़ों कथाएं लौकिकभाषामें वर्णित की गयी हैं, परन्तु सभीके ही अध्यात्मिक तत्त्व निकालनेकी युक्ति ऊपर कही हुई युक्तियोंके सदृश है, इसलिये सब लौकिकभाषाओंका उसी प्रकार तत्त्व निर्णय करके पुराणकी महिमा बढ़ानी चाहिये।

भाषाकी तरह भावके विषयमें भी दृष्टान्त समझने योग्य हैं। देवीभागवत, मार्कण्डेयपुराण आदिमें जो देवासुरसंग्रामका वर्णन मिलता है वह बृहदारण्यकोपनिषद्में लिखित—

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चाऽसुराश्च, ततः कानीयसा एव देवा, ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्द्धन्त।

इस मंत्रका ही व्याख्यारूप है, इसमें पुराणके त्रिभावोंकी पूर्णताका विज्ञान है। देवासुरसंग्राम आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, इन तीनों प्रकारसे ही हुआ करता है। स्थूल संसारमें जो दैवीसम्पत्ति और आसुरीसम्पत्तिवाले मनुष्योंकी परस्परमें लड़ाई हुआ करती है, इसको ही शास्त्रोंमें आधिभौतिक देवासुर-संग्राम कहा जाता है। गीतामें दोनों सम्पत्तियोंके लक्षणोंके विषयमें श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने कहा है कि:—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नाऽतिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ ! सम्पदमासुरीम् ॥

अभय, चित्तशुद्धि, ज्ञानयोगमें अवस्थान, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपिशुनता, दया, निर्लोभता, मृदुता, लज्जा, धीरता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह और अमानिता ये दैवीसम्पत्ति हैं। और दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, निठुरता और अज्ञानता ये ही सब आसुरीसम्पत्ति हैं। इस प्रकार दैवी और आसुरीसम्पत्तिवाले मनुष्योंमें विवाद हुआ करता है। यही आधिभौतिक देवासुरसंग्राम है। इसी प्रकार सूक्ष्म जगत्‌में सत्त्व गुणकी अधिष्ठात्री चेतनशक्ति अर्थात् देवता और तमोगुणकी अधिष्ठात्री चेतनशक्ति अर्थात् असुर, इन दोनों शक्तियोंमें जो संग्राम होता है उसीको ही दैवी जगत्‌में देवासुरसंग्राम कहते हैं, यही आधिदैविक देवासुरसंग्राम है। और प्रत्येक मनुष्यके चित्तमें जो अहिंसा, सत्य, दया, त्याग, शान्ति धृति, क्षमा आदि दैवीसम्पत्ति और इनके विरुद्ध हिंसा, क्रोध, काम, मोह, अधैर्य आदि आसुरीसम्पत्ति हैं, इन दोनों विरुद्ध वृत्तियोंमें नित्य संग्राम हुआ करता है, इसको ही आध्यात्मिक देवासुरसंग्राम कहते हैं। सत्त्वगुण और तमोगुणके अनुसार ये दोनों वृत्तियाँ मनुष्योंको सदाही अपनी ओर खींचनेके लिये प्रयत्न करती हैं, इन दोनों वृत्तियोंका संग्राम ही मनुष्य-जीवनका प्रेरक और पुरुषार्थका रहस्य है। इन दोनोंमें जिस वृत्तिकी जय होती है, मनुष्योंका चित्त उसी भावमें भावित होता है। तामसिक-वृत्तिके पराजयसे मनुष्य सात्त्विक होते हैं और सात्त्विकवृत्तिके पराजयसे मनुष्य तामसिक होते हैं। प्रत्येक अन्तःकरणमें सात्त्विक और तामसिक अर्थात् दैवी और आसुरीवृत्तियोंका जो परस्पर संग्राम है, इसीका नाम आध्यात्मिक देवासुरसंग्राम

है। यही देवासुरसंग्रामके वर्णनमें पुराणोंमें कथित त्रिभावोंकी पूर्णता है।

इस प्रकारसे जितना सोचा जायगा उतनी ही पुराणकी विचित्र महिमा तथा निखिल कल्याणकारिता प्रकट होगी। यही संक्षेपसे वर्णित पुराणशास्त्रका रहस्य है। इसका विस्तारित वर्णन ग्रंथान्तरमें * द्रष्टव्य है।



* रासलीला आदिके रहस्य वर्णन धर्मकल्पद्रुममें किये गये हैं।

तन्त्रशास्त्र।

—:*:—

वेदके सदृश तन्त्रशास्त्र भी बहुत ही विस्तृत है। तन्त्रशास्त्रोंकी विशेषता यह है कि, तन्त्रोंमें वेदकी संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद्-भागका रहस्य और स्मृति आदि शास्त्रोंका विस्तार अधिक मिलता है। इसी कारण तन्त्रोंकी संख्या सबसे अधिक कही गयी है। तन्त्रोंमें कहा है कि:—

सप्तसप्ततिसहस्राणि संख्यातानि मनीषिभिः।

इस हिसाबसे १४००० चौदह हजार तन्त्रग्रन्थोंका प्रचलित होना समझा जाता है। यद्यपि वेदके अनुसार तन्त्रग्रन्थोंका भी इस समय सहस्रांश भी नहीं मिलता, परन्तु अब भी अनेक तन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

तन्त्रशास्त्रोंके लक्षणके विषयमें हमारे परमपूज्यपाद महर्षियोंने शास्त्रोंमें इस प्रकार वर्णन किया है कि:—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च तन्त्रनिर्णय एव च।
देवतानाञ्च संस्थानं तीर्थानाञ्चैव वर्णनम्॥
तथैवाऽऽश्रमधर्मश्च विप्रसंस्थानमेव च।
संस्थानं चैव भूतानां यन्त्राणाञ्चैव निर्णयः॥
उत्पत्तिर्विबुधानाञ्च तरूणां कल्पसंज्ञितम्।
संस्थानं ज्योतिषाञ्चैव पुराणाख्यानमेव च॥
कोषस्य कथनं चैव व्रतानां परिभाषणम्।
शौचाऽशौचस्य चाऽऽख्यानं नरकाणाञ्च वर्णनम्॥
सगुणोपासना दिव्या पञ्चतत्त्वविभेदतः।
चतुष्टये भेदेन ब्रह्मणो ध्यानधारणे॥

मन्त्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा।
उपासनाविधिः सम्यगीश्वरस्य परात्मनः॥
सप्तानां ज्ञानभूमीनां शास्त्रोक्तानां विशेषतः।
ज्ञानस्य चाऽधिकारांस्त्रीन्भावतात्पर्य्यलक्ष्यतः॥
तन्त्रेषु च पुराणेषु भाषायास्त्रिविधां स्तुतिम्।
वेदस्य च षडङ्गानि उपवेदचतुष्टयम्॥
प्रेततत्त्वं पितृतत्त्वं लोकतत्त्वं वरानने!।
जीवतत्त्वं ज्ञानतत्त्वं कर्म्मतत्त्वं शुभाऽशुभम्॥
रसायनं रससिद्धिं जपसिद्धिं तपः परम्।
दैवं रहस्यं शक्तिञ्च निश्शेषदेवपूजितम्॥
हरचक्रस्य चाऽऽख्यानं स्त्रीपुंसोश्चैव लक्षणम्।
राजधर्म्मो दानधर्म्मो युगधर्म्मस्तथैव च॥
व्यवहारः कथ्यते च तथा चाऽध्यात्मवर्णनम्।
इत्यादिलक्षणैर्युक्तं तन्त्रशास्त्रं विदुर्बुधाः॥

सृष्टिप्रकरण, प्रलयप्रकरण, तन्त्रनिर्णय, दैवीसृष्टिका विस्तार, तीर्थवर्णन, ब्रह्मचर्य्यादि आश्रमधर्म्म, ब्राह्मणादि वर्णधर्म्म, जीव-सृष्टिका विस्तार, यन्त्रनिर्णय, देवताओंकी उत्पत्ति, औषधि-कल्प, ग्रहनक्षत्रादिसंस्थानं, पुराणाख्यान कथन, कोष कथन, व्रतवर्णन, शौचाशौचनिर्णय, नरकवर्णन, आकाशादि पञ्चतत्त्वोंके अधिकारके अनुसार पञ्च सगुणोपासना, स्थूल ध्यान आदि भेदसे चार प्रकारका ब्रह्मका ध्यान और धारणा, मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, राजयोग, परमात्मा परमेश्वरकी सब प्रकारकी उपासना विधि, सप्त दर्शनशास्त्रोंकी सात ज्ञानभूमिका रहस्य, अध्यात्म आदि तीन प्रकारके भावोंका लक्ष्य, तन्त्र और पुराणोंकी त्रिविध भाषाका रहस्य, वेदके षडङ्ग, चारों उपवेद, प्रेततत्त्व, पितृतत्त्व, चतुर्दश लोकतत्त्व, जीवतत्त्व, ज्ञानतत्त्व, शुभाशुभ कर्म्मतत्त्व, रसायनशास्त्र,

रसायनसिद्धि, जपसिद्धि, श्रेष्ठतरसिद्धि, दैवीजगत्सम्बन्धीय रहस्य, सकल देवगणपूजित शक्तिका वर्णन, हरचक्रकथन, स्त्रीपुरुषलक्षण— वर्णन, राजधर्म्म, दानधर्म्म, युगधर्म्म, व्यवहारनीति, आत्मा अनात्माका निर्णय इत्यादि विषय जिस शास्त्रमें वर्णन किया गया हो उसको तन्त्रशास्त्र कहते हैं। अर्थात् तन्त्रोंमें इतने विषयोंका वर्णन पाया जा सकता है। अस्तु तन्त्रशास्त्र कैसा अपूर्व, सर्व्वहितकारी, लौकिक और अलौकिक ज्ञानसे पूर्ण और आध्यात्मशास्त्रका एक प्रधान अङ्ग है सो ऊपरलिखित विषयसूचीसे ही जाना जा सकता है।

तन्त्रशास्त्रोंमें तन्त्रशास्त्रोंकी महिमाके वर्णन करनेके अभिप्रायसे हमारे परम पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियोंने इसी कारण आज्ञाकी है कि :—

विष्णुर्वरिष्ठो देवानां ह्रदानामुदधिस्तथा ।
नदीनाञ्च यथा गङ्गा पर्वतानां हिमालयः ॥
अश्वत्थस्सर्व्ववृक्षाणां राज्ञामिन्द्रो यथा वरः ।
देवीनाञ्च यथा दुर्गा वर्णानां ब्राह्मणो यथा ॥
तथा समस्तशास्त्राणां तन्त्रशास्त्रमनुत्तमम् ।
सर्वकामप्रदं पुण्यं तन्त्रं वै वेदसम्मतम् ॥

मत्स्यसूक्तमें लेख है कि, जिस प्रकार देवतागणमें विष्णु, ह्रदसमूहमें समुद्र, नदियोंमें गङ्गा, पर्वतोंमें हिमालय, वृक्षसमूहोंमें अश्वत्थ, राजाओंमें इन्द्र, देवियोंमें दुर्गा और वर्णचतुष्टयमें ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार सर्व शास्त्रोंमें तन्त्रशास्त्र सर्वोपरि प्रधान है। शास्त्रोंमें जो इस प्रकारसे तन्त्रशास्त्रोंकी महिमा प्रकाशित की है, उसकी सत्यताका प्रमाण जिज्ञासुओंको निरपेक्षबुद्धि द्वारा इस शास्त्रके ग्रन्थसमूहके पाठ करनेसे ही मिल सकता है। यदि च अनेक तन्त्रग्रंथोंमें ऐसे विषय भी प्राप्त होते हैं, कि, जिनके देखनेसे

जिज्ञासुओंको प्रथम दृष्टिमें यह शास्त्र अरुचिकर हो सकता है, परन्तु यदि वे नियमितरूपसे श्रेष्ठ तन्त्रग्रन्थोंको अपनी निरपेक्षबुद्धि एवं सत्य अनुसंधान-वृत्ति द्वारा अवलोकन करेंगे, तो वे स्वतः ही स्वीकार करने लगेंगे कि, वास्तवमें तन्त्रशास्त्रसमूह बहुत ही औपकारी हैं। और जिस प्रकार इनकी प्रशंसा शास्त्रोंमें पायी जाती है, वे शास्त्र उसी प्रकारसे किसी समय भारतवर्षमें सनातनधर्मको रक्षाके अर्थ अपने पूर्ण स्वरूपमें प्रकट थे, इसमें सन्देह नहीं।

विभिन्न तन्त्र प्रणेताओंके विचार द्वारा तन्त्रोंको तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं; यथा श्रीसदाशिवोक्त तन्त्र, पार्वती कथित तन्त्र एवं ऋषिगण प्रणीत तन्त्रग्रन्थ। ये नियम आगम और आर्षतन्त्र कहाते हैं। तन्त्रोंके इन प्रणेताओंके नाम द्वारा ही उनकी महिमा प्रकाशित हो सकती है। कोई कोई पाश्चात्य विद्याभिमानी इस प्रकारकी शंका किया करते हैं कि, तन्त्रसमूह प्राचीन आर्षग्रंथ नहीं हैं, एवं अपने इस सिद्धान्तके पोषणमें तन्त्रोक्त भाषाकी सरलताका प्रमाण दिया करते हैं। परन्तु भाषाकी सरलता अथवा गंभीरतासे पूर्वोक्त शंकाकी सिद्धि कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि आर्षग्रन्थोंमें ऐसा देखनेमें आता है कि, एक ही आचार्यने कई प्रकार की भाषाएं लिखी हैं। श्रीभगवान् महर्षि वेदव्यासकी वेदान्त सूत्रोक्त भाषामें उनकी महाभारतकी भाषामें और उनकी श्रीमद्भागवतकी भाषामें कितना अन्तर प्रतीत होता है, श्रीमहाभारत तथा श्रीमद्भागवतकी भाषामें इतना अन्तर है कि, जिसके कारणसे प्रायः सभी पण्डितगण विमोहित होने लगते हैं और यह अनुमान करने लगते हैं कि, इन दोनों ग्रंथोंके भिन्न भिन्न आचार्य्य हैं। नाना प्रकारके जीवोंके कल्याणार्थ नाना अधिकारके ग्रन्थोंमें कई प्रकारकी भाषाओंका प्रयोग करना कुछ असम्भव या युक्तिविरुद्ध नहीं है। इस कारण सरल भाषाके विचारसे पूर्वोक्त शंका स्थायिनी नहीं हो

सकती। कोई कोई महाशय तन्त्रके आचार्योंकी सत्यताके विषयमें भी सन्देह किया करते हैं और कहा करते हैं कि शिवादि ईश्वर द्वारा तन्त्रोंका प्रकाश होना कैसे सम्भव है ? क्या वे देवतारूप धारण करके तन्त्रग्रन्थ लिखनेको प्रकट हुए थे ? इत्यादि शंकाओंके उत्तरमें कहा जा सकता है कि, जिस प्रकार परमात्मा द्वारा वेद-कथन संभव हो सकता है, उसी प्रकार उनके अंशरूप शिवमाय द्वारा तन्त्रोंका होना भी सम्भव है। अपौरुषेय, अनादि, अभ्रान्त और ज्ञानज्योतिःपूर्ण वेदसमूह जिस प्रकार जगदीश्वर परमात्मा-की इच्छासे ब्रह्मवादी ऋषियोंके रूपमें ऋषिगण द्वारा प्रकाशित हुए थे, उसी प्रकार श्रीसदाशिवकी इच्छासे उनके भक्त सिद्ध मुनिगण द्वारा तन्त्रग्रन्थोंका भी प्रकाश होना पूर्णरूपेण युक्तियुक्त है।

वेदोक्त रहस्य समझनेमें कलियुगमें अतिकठिनता होना सम्भव होनेके कारण तन्त्रग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं ऐसा वर्णन तन्त्रोंमें पाया जाता है। वेदोक्त कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, तीनोंका इस प्रकारसे विस्तारित विवरण तन्त्रोंमें पाया जाता है कि, जिसको देखकर ज्ञानी पुरुषगण चौंक उठते हैं। कहीं कहीं वेदके ब्राह्मणके अध्यायके अध्यायका रूपान्तर तन्त्रोंमें देखनेमें आता है। कर्मकाण्डका विस्तार इतना अधिक है और क्रियापद्धति इतनी सरल कर दी गयी है कि, इस समय वैदिक कर्मकाण्डके स्थानपर बहुधा तान्त्रिक क्रियापद्धति ही भारतवर्षमें देख पड़ती है। निर्गुण ब्रह्मो-पासना और उपनिषदुक्त आत्मरहस्यके साथ ही साथ सगुण पञ्चोपासनाका वर्णन और उनकी उपासनाकी पद्धति तन्त्रोंमें इस प्रकारसे विस्ताररूपसे पायी जाती है कि, ऐसा अन्य किसी शास्त्रमें नहीं पाया जाता। विष्णुयामल, ब्रह्मनारदीय, हरिरहस्य आदि तन्त्रोंमें विष्णूपासनाका विवरण, रुद्रयामल, सिद्धदिगम्बर, शिवविलास आदि तन्त्रोंमें शिवोपासनाका विस्तृत रहस्य, गणपतिसूक्त, गणेशविमर्शिनी,

सिद्धेश्वरतन्त्र आदिमें गणपति उपासनाका रहस्य, सुदर्शनराशरीय, आदित्ययामल, सप्तशिखी आदि तन्त्रोंमें सूर्योपासनाको विस्तृत पद्धति और शक्तियामल, देवीविलास, कुलानन्दिका आदि तन्त्रोंमें शक्ति-उपासनाका विस्तृत विवरण देखनेसे प्रतीत होता है कि, सगुण पञ्चोपासनाका विस्तारित रहस्य प्रधानरूपसे तन्त्रोंमें ही पाया जाता है; और तन्त्रग्रन्थ वैष्णव गाणपत्य शाक्त सौर्य और शैव इन सब उपासक सम्प्रदायोंके लिये परमहितकर हैं। अवतार-उपासना, ऋषि देवता पितृ-उपासना, और निकृष्ट शक्तिरूपी भूत प्रेतादिकी उपासना, सबका वर्णन विस्तारितरूपसे तन्त्रशास्त्रोंमें पाया जाता है। स्थूलध्यान-साध्य मन्त्रयोगके सोलह अङ्गोंका विस्तारित विवरण तन्त्रशास्त्रोंमें जैसा मिलता है, इस प्रकार अन्य शास्त्रोंमें नहीं मिलता। ज्योतिर्ध्यानसाध्य हठयोगके सात अङ्गोंका विस्तारित विवरण अनेक तन्त्रोंमें मिलता है। बिन्दुध्यान-साध्य लययोगके विस्तारित विवरणके लिये इस समय तन्त्रग्रंथ ही एक मात्र अवलम्बनीय हैं। और राजयोगका वर्णन भी अन्तिम सिद्धान्तरूपसे प्रायः सब बड़े बड़े तन्त्रोंमें पाया जाता है।

दैवी-जगत्सम्बन्धीय वर्णन, देव-देवियोंके भेद, देवलोकोंका वर्णन, प्रत्येक लोककी योगिनी आदि शक्तियोंका वर्णन, मन्त्र द्वारा दैवी सिद्धिप्राप्तिका वर्णन, तथापि द्वारा सिद्धियोंका वर्णन और उपासनाका विस्तारित क्रियासिद्धांश जिस प्रकार तन्त्रोंमें पाया जाता है वैसा अन्य ग्रंथोंमें प्रायः नहीं मिलता। नरकवर्णन, स्वर्गवर्णन, पितृलोकवर्णन, प्रेतलोकवर्णन, जीवकी आतिवाहिक गतिका वर्णन अनेक तन्त्रग्रंथोंमें अतिविस्ताररूपसे पाया जाता है। ब्राह्मणादि-वर्णधर्मकथन, पुरुष-धर्मकथन, नारीधर्मकथन, स्त्रीपरीक्षा, पुरुषपरीक्षा, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास-धर्मकथन, नाना व्रतकथा और व्रतसाधनप्रणाली, शौच और

सदाचारधर्मवर्णन, सृष्टितत्त्ववर्णन, ज्ञानधर्मवर्णन, राजधर्म-वर्णन, अनेक व्यावहारिक नीतिका वर्णन, ये तन्त्रग्रन्थोंमें अति-विस्ताररूपसे पाये जाते हैं।

ज्ञानकाण्डका भी तन्त्रशास्त्र भाण्डार है। दर्शनशास्त्रोंके अनेक रहस्य और सब दर्शनोंका विस्तार जिस प्रकार तन्त्रोंमें मिलता है वैसा स्मृति पुराणादिमें नहीं मिलता। वैद्यकशास्त्रके लिये तो तन्त्रशास्त्र प्रधान अवलम्बन ही है। शल्यचिकित्सा, मैषज्यचिकित्सा और रसचिकित्सा, इन तीनोंमेंसे रसचिकित्साका प्रधान भाण्डार तन्त्र ही है। वनौषधि आदि द्वारा चिकित्साका वर्णन भी तन्त्र-शास्त्रोंमें कम नहीं है। वनौषधिके द्वारा अतिसुगम रीतिपर चिकित्सा करनेकी जो एक शैली अवधूत चिकित्सा नामसे साधुओं-में प्रचलित है, वह तन्त्रोक्त ही है। धातु और उपधातुकी सहा-यतासे अनेक औषधि बनानेकी अतिसरल रीति जिस प्रकार तन्त्रोंमें वर्णित है वैसी रीति वैद्यशास्त्रके सिद्धान्त ग्रन्थोंमें नहीं पाई जाती। सिद्धगुटिका आदि रससिद्धि और नाना रसायनविद्याका पता तन्त्रोंमें ही लगता है। अनेक तन्त्रग्रंथ गणित ज्योतिष, फलित ज्योतिष और सङ्गीतविद्याके रहस्योंसे पूर्ण हैं। कदरमूर्ओंका क्रियासिद्धांत जिस प्रकार तन्त्रोंमें मिलता है वैसा अन्य किसी शास्त्रमें नहीं मिलता। अन्यान्य पदार्थविद्या आदिके भी अनेक विषय तन्त्रोंमें मिलते हैं।

त्रिगुण भेदसे प्रकृतिके पहचाननेकी रीति, त्रिगुणका गूढ़ रहस्य और प्राकृतिक राज्यका अन्वय व्यतिरेक द्वारा परिशीलन अनेक तन्त्र ग्रन्थोंमें अतिविस्ताररूपसे पाया जाता है। पुराण आदि शास्त्रके समझनेके अर्थ उसकी समाधिभाषा, लौकिकभाषा और परकीयभाषा का विवरण और शास्त्रोक्त अध्यात्मरहस्य, अधिदैव रहस्य और अधिभूतरहस्य, तन्त्रोंके अनेक स्थानमें पाये जाते हैं

और शक्तिरहस्यवर्णनका तो उत्तम पूर्ण भाण्डार ही है। वह संसार शक्तिका ही विलास है, इस विषयको तो प्राचीन और आधुनिक पण्डितगण सब एकवाक्य होकर ही स्वीकार करते हैं। परन्तु शक्तितत्त्वका विस्तार जिस प्रकार तन्त्रशास्त्रोंमें है ऐसा अन्य शास्त्रोंमें नहीं पाया जाता। स्थूल सूक्ष्म कारण और तुरीय इन चार अवस्थाओंमें महाशक्तिका समानरूपसे दर्शन पूज्यपाद महर्षियोंने जिस प्रकार किया है, वैसा इस जगत्में न हुआ है और न होगा। इसपर जड़ात्मक इस स्थूल जगत्में जो कुछ परिणाम और जो कुछ सृष्टि स्थिति लयका कार्य्य हो रहा है सो सब उस आद्याशक्ति महामायाका ही कार्य्य है। आकाशादि पञ्चतत्त्वोंमें व्यापक सौदामिनी (इलेक्ट्रीसिटी) आदि शक्तियोंको पदार्थवादी पण्डितगण चाहे जड़शक्तिरूपसे ही वर्णन करें, और चाहे वे अपनी उत्तम प्रतिभा द्वारा उस शक्तिको अपने प्रबन्धाधीन लाकर उसके द्वारा अनेक प्रकारकी कार्य्यसिद्धि कर सकें, परन्तु हमारे आर्षसिद्धान्तके अनुसार यह निश्चित ही है कि, इस प्रकारको स्थूल आकाशादि पञ्चभूतोंमें स्पष्टरूपसे प्रकाश होनेवाली जड़ शक्तिके मूलमें उस चेतनमयी महाशक्तिका महानुशासन विद्यमान है इसके कारण व विज्ञान पहले पहले अध्यायोंमें बहुत कुछ कहे गये हैं। जिस प्रकार मनुष्यके स्थूल शरीरके नख केश आदि अंग शरीरसे अलग कर देनेपर भी वे शरीरके अंश ही समझे जा सकते हैं, उनका शरीरके साथ सम्बन्ध रहने और न रहनेका फलाफल यद्यपि स्पष्टरूपसे प्रतीत नहीं होता, साधारणरूपसे चेतनवान् शरीरके वे अंग होनेपर भी जड़वत् ही प्रतीत होते हैं, परन्तु शरीरके साथ विद्यमान रहते समय उनमें ह्रास वृद्धि क्षय आदि चैतन्यलक्षण स्पष्टरूपसे दिखाई देते हैं; इसी प्रकार अन्तर्दृष्टि रखनेवाले ज्ञानिगण ऊपर लिखित जड़शक्तिको भी चेतनवत् ही मानेंगे। इसका

दूसरा प्रमाण यह है कि, शरीरस्थ केश नख आदिका सम्बन्ध शरीरके साथ रहते समय शरीरके रोगग्रस्त और नैरोग्य होनेकी अवस्थाके साथ उनकी अवस्था-परिवर्त्तनका भी सम्बन्ध दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार आकाशादि स्थूल पञ्चतत्त्वोंमें व्यापक स्थूल सौदामिनीशक्तिकी गति और स्थितिका समय समय पर पता नहीं चलता। जगत्की व्यापक सौदामिनीशक्ति (इलेक्ट्रीसिटी) किसी समय मन्द और किसी समय तीव्र हो आती है और किसी समय उसकी शक्तिका क्षणिक लोप भी प्रतीत होने लगता है, यह सब परिणाम पदार्थविद्या (सायन्स) के पण्डितोंने भली भांति अनुभव किया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि, स्थूल सौदामिनीके मूलमें कोई और सूक्ष्म शक्ति विद्यमान है जो इस स्थूल शक्तिकी नियामिका है। विशेषतः यह तो सिद्ध नहीं हो सकता कि, यह स्थूल सौदामिनीशक्ति स्थूल होनेपर भी इसका स्वरूप क्या है। और यह भी मनुष्यबुद्धिसे सर्वथा प्रतीत है कि, इस स्थूल जड़मयी कार्य्यरूपिणी सौदामिनीशक्तिका कारण क्या है। वेदोक्त दार्शनिक ज्ञानके अनुसार स्थूल सूक्ष्म कारण और तुरीय इन चार अवस्थाओंमें ही शक्तिका पूर्णरूपसे सम्बन्ध रहनेके कारण उक्त विज्ञानके सिद्धान्तसे इस प्रकारकी शक्तियाँ अनादि अनन्त चिन्मयी ब्रह्मशक्तिके स्थूल परिणाम हैं। पिण्ड या ब्रह्माण्डके स्थूल शरीरमें इस प्रकारकी स्थूल शक्तियोंके द्वारा एवं पिण्ड और ब्रह्माण्डके सूक्ष्म शरीररूपी सूक्ष्म जगत्में जीव-शरीरस्थ प्राणशक्ति और ब्रह्माण्डस्थित महाप्राणशक्तिके द्वारा उस सर्वव्यापक चिन्मयी महाशक्तिका परिचय मिलता है। पूज्यपाद महर्षियोंने यह स्पष्टरूपसे सिद्ध करके दिखाया है कि, सूक्ष्म शरीरको प्राणशक्तिमें विकार उत्पन्न होनेपर उसकी गति और स्थितिमें फेर पड़जानेसे जीवशरीर रोगग्रस्त हो जाता है; और उसी प्रकार महाप्राणमें असमता

उत्पन्न होनेपर पृथ्वीमें अतिवृष्टि अनावृष्टि महामारी आदिक क्लेश उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकारसे कारणरूपसे वही महाशक्ति कारण जगत्‌में उत्पत्ति स्थिति और लयका कारण हुआ करती है। जीव-जगत्‌का सृष्टि-प्रवाह, जीवका उद्भिज्जादि योनिसे क्रमशः मनुष्ययोनिमें पहुँचाना, इस प्राकृतिक प्रवाहकी सुरक्षा, धर्मके द्वारा मनुष्यको क्रमशः मुक्तिभूमिमें अग्रसर करना, साधकमें अपने यथायोग्य साधनके अनुसार ज्ञानोन्नति होना और अन्तमें सच्चिदानन्द भावरूपकी सहायतासे स्वस्वरूपकी उपलब्धि कराना, यह सब उस चैतन्यमयी कारणरूपिणी महाशक्तिकी ही कृपाका फल है। इसी प्रकार समष्टि जगत्‌में सृष्टि स्थिति लयके क्रमकी सुरक्षा करना भी इन्हींका कार्य्य है। सर्वशक्तिमयी महामायाका चतुर्थ अर्थात् तुरीय भाव मनुष्यकी वाणी और मनसे अगोचर है। पूज्यपाद महर्षियोंने ऐसा वर्णन किया है कि:-

ब्रह्मशक्तयोरभेदोऽहंममेतिवत्।

मैं और मेरी शक्ति, इस प्रकारके विचार करनेसे जैसे मुझमें और मेरी शक्तिमें अभिन्नता सिद्ध होती है, उसी प्रकार ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति महामायामें अभेद है, वे तद्गुक्तिसरूपिणी सच्चिदानन्दमयी हैं। विष्णुपुराणमें कहा है कि:-

स एव क्षोभको ब्रह्मन्! क्षोभ्यश्च पुरुषोत्तमः।
स सङ्कोचविकासाभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितः॥
केचित्त्वा तप इत्याहुस्त्वां केचिज्ज्ञानं परे।
ज्ञानं मायाप्रधानञ्च प्रकृतिं शक्तिमप्यजाम्॥
सा वा पतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका।
माया नाम महाभाग! ययेदं निर्मितं विभुः॥

यही पुरुषोत्तम भगवान् क्षोभ्य और क्षोभक उभयरूपसे प्रतिभात होते हैं एवं सङ्कोच और विकाशके द्वारा ब्रह्म और तद्गुक्ति-

स्वरूपिणी प्रकृति और प्रधान उभयरूपसे विद्यमान रहते हैं। यह प्रकृति कहीं इच्छारूपसे, कहीं मायारूपसे एवं कहीं शक्तिरूपसे वर्णन की गई है। यह शक्ति सदसदात्मिका है एवं चैतन्यरूप भगवान् इसके द्वारा ही समस्त विश्वकी सृष्टि किया करते हैं। तात्पर्य यह है कि, ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति महामायामें भेद कुछ भी नहीं है, जिस प्रकार अग्निमें अग्निकी दाहिकाशक्ति निहित रहती है; उसी प्रकार ब्रह्ममें ब्रह्मशक्ति निहित रहती है। जिस प्रकार अग्निसे अग्निकी दाहिकाशक्ति अलग नहीं हो सकती; उसी प्रकार ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिका भेद असम्भव है। महाशक्तिकी यही अवस्था उनकी तुरीय दशा है। सुतरां पूर्वकथित विज्ञानसे यह सिद्ध हुआ कि, चिन्मयी महाशक्तिकी स्थूलअवस्था, सूक्ष्मअवस्था, कारणअवस्था और तुरीयअवस्था, ये चारों स्वतन्त्र अवस्था होनेपर भी उन्हीं चिन्मयी ब्रह्मशक्तिकी अवस्थाके भेदसे जगत्के सब अङ्गोंमें यावत् शक्तिका विकाश हुआ करता है। क्या सत्यलोक आदि ऊर्द्ध्वलोक, क्या इन्द्रादि देवगण और क्या ये स्थावर जङ्गमात्मक स्थूलजगत्, सब ही इन अद्वितीय अनादि अनन्त सच्चिदानन्दमयी महाशक्तिके ही प्रभाव अनुशासन और सहायतासे ही स्थित हैं। और उन्हींकी सत्तासे ये सब सत्तावान् हैं। सकल देवपूजित इन्हीं महाशक्तिका विस्तारित विवरण जिस प्रकार तन्त्रशास्त्रोंमें पाया जाता है, ऐसा और कहीं नहीं पाया जाता। यही तन्त्रशास्त्रके विषयमें संक्षिप्त विचार है।

आत्मतत्त्व ।

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यस्त-मेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" ।

आत्माका दर्शन करना चाहिये, उसके विषयमें श्रवण मनन और निदिध्यासन करना चाहिये, आत्माके जाननेसे ही जीव मृत्यु-को अतिक्रम करके निःश्रेयसपदवीपर प्रतिष्ठा लाभ करता है, घोरसंसारसिन्धुसे पार होनेके लिये आत्मदर्शनके बिना और कोई भी उपाय नहीं है। इस प्रकारसे भगवती श्रुतिने गम्भीरभावसे आत्मदर्शनकी परमावश्यकताका उपदेश किया है। श्रीभगवान् मनुजीने कहा है:—

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।
प्राप्यैतत् कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥
यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः ।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ॥

समस्त धर्मोंसे आत्मज्ञान ही श्रेष्ठ धर्म है; क्योंकि इसीको प्राप्त करके द्विजगण कृतकृत्य होते हैं। अन्यथा नहीं। अन्यान्य समस्त कर्मोंको भी परित्याग करके ब्राह्मणको आत्मज्ञान, शम और वेदा-भ्यासके लिये यत्नवान् होना चाहिये। महर्षि याज्ञवल्क्यजीने कहा है:-

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम् ॥

यागयज्ञ, आचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय आदि धर्म कर्मोंमेंसे योग द्वारा आत्मदर्शन करना ही परम धर्मकार्य है। साम-वेदीय तलवकारोपनिषद्में लिखा है:--

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माँल्लोकादमृता भवन्ति ॥

यदि इस संसारमें आकर आत्माका साक्षात्कार लाभ हुआ तभी मनुष्यजन्म सार्थक है; अन्यथा जीवको जननमरणचक्रमें बहुत ही कष्ट उठाना पड़ेगा। इसलिये धीर योगिगण सर्वत्र आत्माकी अद्वितीय सत्ताको उपलब्ध करके दृश्यप्रपञ्चसे अतीत होकर अमृतत्व लाभ करते हैं। श्रीभगवान् शंकराचार्यजीने कहा है:—

लब्ध्वा कथञ्चिन्नरजन्म दुर्लभं
तत्रापि पुँस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम् ।
यः स्वात्ममुक्त्यै न यतेत मूढधीः
स आत्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात् ॥

अनेक कष्टसे दुर्लभ मनुष्यजन्म और उसमें भी पुरुषशरीर तथा वेदविद्याको प्राप्त करके जो मूढबुद्धि मानव आत्माके उद्धारके लिये प्रयत्न नहीं करता है वह आत्मघाती है। नीतिशास्त्रकारोंने कहा है:—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥

कुलकी रक्षाके लिये एकको, ग्रामके लिये कुलको, देशके लिये ग्रामको और आत्माके लिये पृथिवीको त्याग करे। क्योंकि श्रुतिमें कहा है:—

'तदेतत् प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरो यदयमात्मा'

हृदयविहारी आत्मा, पुत्र, धन, जन और संसारके समस्त वस्तुओंसे प्रिय है। इसीलिये श्रीभगवानने गीताजीमें आत्माके उद्धारके लिये आज्ञा की है। यथा:—

"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्"

आत्माके द्वारा आत्माका उद्धार करना चाहिये। आत्माको अवसादग्रस्त नहीं करना चाहिये। इस प्रकारसे श्रुति स्मृत्यादि समस्त शास्त्रोंमें एकवाक्य हो आत्मदर्शन और आत्मतत्त्वान्वेषण की प्रशंसा की है। इसलिये नीचे आत्माके स्थूल, सूक्ष्म, कारण, प्रकृति तथा पञ्चकोषसे अतीत, निष्कल, निरञ्जन, यथार्थ तत्त्वका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है। वेदमें परमात्माको सत्, चित, आनन्दरूप कहा गया है। स्मृतिमें लिखा है:—

सत्ता चितिः सुखञ्चेति स्वभावा ब्रह्मणस्त्रयः।
मृच्छिलादिषु सत्तैव व्यज्यते नेतरद्वयम्॥

सत्, चित् और आनन्द ब्रह्मके ये तीन स्वभाव हैं। इनमेंसे मृत्तिका और प्रस्तरादि अचेतन पदार्थोंमें केवल सत्ताभावका ही विकाश रहता है; चित्भाव और आनन्दभावका विकाश नहीं रहता है। और भी स्मृतिमें:—

अस्ति भाति प्रियं नाम रूपञ्चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥

सत्, चित, आनन्द, नाम और रूप ये पांच वस्तुएं हैं। इनमेंसे प्रथम तीन ब्रह्मके रूप और अन्य दो जगत् रूप हैं।

इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें परमात्माको सत्, चित् और आनन्दरूप कहा गया है। अब नीचे इन तीन रूपोंका विशेष वर्णन किया जाता है।

प्रत्येक परिणामशील वस्तुकी सत्ता आपेक्षिक होती है, निर्विशेष नहीं होती है अर्थात् प्रत्येक परिणामी वस्तु अपनेसे अपेक्षाकृत कम परिणामी वस्तुके साथ तुलनामें परिणामी होती है, यही परिणामशील वस्तुकी आपेक्षिक सत्ता है। इस प्रकारसे विचारका सूत्र अवलम्बन करके प्रत्येक वस्तुकी आपेक्षिक सत्ताका पता लगाने पर यही सिद्धान्त निकलेगा कि, सबके अन्तमें सबके मूलकारणरूप

ऐसी एक आपेक्षिकताविहीन निर्विशेष मूलसत्ता विद्यमान है जो नित्य, पूर्ण, अजर, अमर और परिणामहीन है और जिसके ऊपर समस्त परिणामशील, अनित्य, अपूर्ण और देशकालपरिच्छिन्न सत्ताकी स्थिति निर्भर करती है। वही परिणामहीन सर्वतः पूर्ण, नित्य सत्ता सच्चिदानन्दमय ब्रह्म है। उन्हींकी परिणामहीन सत्सत्ता पर निखिल प्रपञ्चकी परिणामशील आपेक्षिक सत्ता निर्भर करती है। उन्हींकी परिणामहीन स्वप्रकाशशील चित्सत्तापर निखिल प्रपञ्चमें प्रतिभासित विविधविलासमयी ज्ञानसत्ता निर्भर करती है और उन्हींकी परिणामहीन चिन्मुग्धपूर्ण, सुखदुःखद्वन्द्वरहित आनन्दसत्तापर भावराज्यस्तरपर्यन्त प्रत्येक जीवहृदयमें क्षणके मूलकारणरूप, परिणामशील, वियोगदुःखपूर्ण सुखसत्ताकी विविधविलासकला प्रत्यक्ष हो रही है। इस प्रकारसे अपरिणामी, पूर्ण और नित्य परमात्माकी सत्, चित् और आनन्दसत्ताके ऊपर सब प्रपंचकी आपेक्षिक तथा परिणामी सत्सत्ता, ज्ञानसत्ता और आनन्दसत्ता निर्भर करती है, परन्तु उनकी सच्चिदानन्दसत्ताके विकासके लिये किसी अन्य सत्ताकी अपेक्षा नहीं रहती है। यथा केनोपनिषद्में:—

यद्वाचा नाभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यन्ति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

जिसका स्वरूप वचनके द्वारा प्रकट नहीं हो सकता है, परन्तु जिसके कारण ही वाक्शक्तिकी स्फूर्त्ति होती है, स्वरूपलक्षणवेद्य वही परमपुरुष ब्रह्म है। जिसका स्वरूप मनका गोचर नहीं है परन्तु जिसके कारण ही मनमें मननशक्ति उत्पन्न होती है, स्वरूपलक्षणवेद्य वही परमपुरुष ब्रह्म है। जिसका स्वरूप चक्षुरिन्द्रियके द्वारा देखा नहीं आ सकता है, परन्तु जिसके कारण ही चक्षुमें दर्शनशक्ति प्राप्त होती है, स्वरूप लक्षण वेद्य वही परम पुरुष ब्रह्म हैं। जिसका स्वरूप श्रवणेन्द्रियका गोचर नहीं है परन्तु जिसके कारण ही श्रवणेन्द्रियमें सुननेकी शक्ति आती है, स्वरूपलक्षण वेद्य वही परमपुरुष ब्रह्म है। जिसका स्वरूपविलास प्राणशक्ति सापेक्ष नहीं है परंतु जिसके कारण ही प्राणकी प्राणनशक्ति समस्त संसारमें प्रस्फुरित हुआ करती है, स्वरूपलक्षणवेद्य वही परमपुरुष ब्रह्म है। और भी कठोपनिषद्में:—

न तत्र सूर्यो भाति न चंद्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

परमात्माके स्वरूपप्रकाशके लिये वहांपर सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र या विद्युत् किसीकी ज्योति नहीं है, प्रत्युत उन्हींकी ज्योतिके द्वारा सूर्य, चन्द्र आदिमें ज्योति आती है और उसीसे संसार आलोकित होता है।

श्रीभगवान्‌की यही स्वयं प्रकाश, गुणातीत तथा देशकाल और वस्तुके द्वारा अपरिछिन्न सत्, चित् और आनन्द सत्ता अघटनघटनापटीयसी त्रिगुणमयी मायाके द्वारा त्रिविध परिच्छिन्न और परिणामीरूपमें समस्त दृश्य संसारमें परिव्याप्त है। उनकी अद्वितीय सत् सत्ता ही मायाके द्वारा नाना जीवसत्ता तथा जगत् सत्तारूपमें भासमान है। यथा श्रुतिमें:—

"रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

एकरूप परमात्मा मायाके द्वारा बहुरूप धारण करके संसारके दृश्यमान समस्त रूपोंमें विभक्त होते हैं। जिस प्रकार एक अग्नि संसारमें प्रकट होकर अनेक रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार परमात्मा मायाके द्वारा अपनी अद्वितीय सत्सत्ताको विश्वप्रपञ्चके अनन्त सत्तारूपमें विभक्त कर देते हैं। इसी प्रकारसे परमात्माकी सत्सत्ताके द्वारा अनन्त जीवसत्ताका विस्तार होता है। उनकी चित्सत्ता त्रिगुणमयी मायाके द्वारा विविधज्ञानरूपमें विश्वब्रह्माण्डमें विलसित है। मायाकी सत्त्वगुणमयी, विद्याभावपर प्रतिबिम्बित वही चित्सत्ता आध्यात्मिक ज्ञानरूपमें मुमुक्षुओंके हृदयाकाशमें प्रकाशित होकर उनको निःश्रेयसपदवीपर प्रतिष्ठित कर देती है। मायाकी रजोगुणमयी परिणामिनी स्थितिपर वही चित्सत्ता प्रति-बिम्बित होकर विविध शिल्पकला, विज्ञान आदि शास्त्ररूपसे अपनी अपूर्व छटाका विस्तार किया करती है। मायाकी तमोगुणमयी अविद्याविलसित भूमिपर वही चित्सत्ता प्रतिफलित होकर विविध तामसिक ज्ञानरूपमें जगत्को मुग्ध कर रही है। इसी प्रकारसे तटस्थ लक्षणयुक्त व्यावहारिक ज्ञान, त्रिगुणतरङ्गप्रतिबिम्बित तथा गुणमिश्रणजनित, अनन्त ज्ञान और स्वरूपाभिमुखीन समस्त ज्ञान उसी ज्ञानरूप परमपुरुष अद्वितीय परमात्माकी चित्सत्ताकी माया-वलम्बिनी बहिर्विलासकलाके रूपसे समस्त द्वैतसत्ताके असंख्य भावोंको आश्रय करके विश्वसंसारमें विकाशको प्राप्त हो रहे हैं। इसीलिये श्रीभगवान्ने गीताजीमें कहा है:—

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥

बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम और शम आदि जीवराशिगत समस्त भाव मुझसे ही उत्पन्न होते हैं। और भीः—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्॥

मैं सबके हृदयमें विद्यमान रहता हूं। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और इसका अभाव भी प्रकट होता है। मैं सकल वेदके द्वारा वेद्य हूं और वेदान्तकर्त्ता तथा वेदका यथार्थ मर्मवेत्ता मैं ही हूं। अतः सिद्धान्त हुआ कि, 'परमात्माकी चिरसत्ता ही त्रिगुणमयी मायाके भिन्न भिन्न भाव और प्रवाहमें प्रतिबिम्बित होकर विश्वजगत्के विविधज्ञानरूपसे जीवकेन्द्रके द्वारा प्रकट होती है। इसी प्रकार उनकी आनन्दसत्ता भी त्रिगुणमयी प्रकृतिके द्वारा प्रतिफलित होकर प्रकृतिसे उत्पन्न जीवजगत्में विविधविषय सुखरूपसे भासमान हो रही है। उनका स्वरूपगत आनन्द नामरूपभेदहीन, सुखदुःखातीत, अखण्ड और नित्य है। यथा श्रुतिमेंः—

"नामरूपभेदहीनोऽस्मि सुखदुःखाद्यनाश्रयविग्रहः"

परमात्मा अद्वितीय और अखण्ड आनन्दरूप हैं, परन्तु परिणामिनी प्रकृतिके द्वारा जब वही आनन्द संसारमें प्रवाहित होता है, उस समय प्रकृतिके त्रिगुणसम्बन्धके कारण दुःखसङ्कुल विषयसुखरूपसे उसी आनन्दका विविधविलास देखा जाता है, जिसका जीव अपनी अपनी प्रकृति और प्रवृत्तिके अनुसार नाना प्रकारके सात्त्विक सुख, राजसिक सुख तथा तामसिक सुखरूपसे उपभोग करता है। यथा श्रुतिमेंः—

"रसो वै सः" "रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति"

"एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति"

परमात्मा आनन्दरूप हैं। उनकी ही आनन्दसत्ताको लाभ करके समस्त जीव आनन्दी होते हैं। विकारहीन सुखदुःखद्वन्द्वहीन परमानन्दकी स्थिति उन्हींमें है और उनकी ही आनन्दसत्ताका कुछ कुछ अंश विषयसुखरूपसे प्रकृतिके द्वारा प्राकृतिक जीव संसारमें उपभोग करता है। दम्पतिके हृदयमें पारस्परिक प्रेमका मधुर आनन्द, मित्रोंके हृदयमें एकप्राणताका पवित्र आनन्द, माता पिताके हृदयमें निष्कलङ्क स्नेह और वात्सल्यजनित उदार आनन्द, काम लोभमोहादिविषयपाशबद्ध विषयी जनोंके हृदयमें दुःखपरिणामशील विविध विषयानन्द इत्यादि सभी प्रकारका आनन्द, अनन्त आनन्दके नित्य प्रस्रवणरूप परमात्माकी आनन्दसत्ताके बिन्दुमात्रको लेकर त्रिगुणमयी मायाके द्वारा अनित्य सुखरूपसे संसारमें विलसित हो रहा है। यही मायातीत सत्, चित् और आनन्दरूप परमात्माके माया द्वारा नानाभावसे संसारमें विकाशकी महिमा है जिसके सम्यक् परिज्ञानसे साम्त जीव अपनी अनन्त सत्ताको उपलब्ध करके मुक्तिलाभ कर सकता है।

जिस मायाके प्रभावसे एक रस, अद्वितीय परमात्मामें निखिल प्रपञ्चका विस्तार होता है, वह माया क्या परमात्मासे पृथक् वस्तु है? नहीं। वह विश्वप्रसविनी प्रकृति उन्हींकी शक्तिके रूपसे उन्हींसे उत्पन्न होती है। यथा श्रुतिमें,—

"यतः प्रसूता जगतः प्रसूती तोयेन जीवान् व्यचसर्ज भूम्याम्"

जगत्प्रसविनी प्रकृति परमात्मासे ही उत्पन्न होकर कारणवारिके द्वारा संसारमें समस्त जीवकी उत्पत्ति करती है। गीतोपनिषद्में कहा गया है:—

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया"

दैवी तथा त्रिगुणमयी मेरी माया दुरत्यया है। मनुसंहितामें लिखा है:—

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः॥

सृष्टिके समय परमात्मा अपने ही अर्द्धांशसे प्रकृतिको निकाल कर उसमें समस्त सृष्टिकी उत्पत्ति करते हैं।

वही प्रकृति ब्रह्मरूपिणी नित्या, और सनातनी और अग्निमें दाहिका शक्तिकी तरह परमात्माकी शक्तिरूपिणी है। ब्रह्मशक्तिरूपिणी मायाके द्वारा ही बारबार जगत्‌की उत्पत्ति होती है और उन्हींकी शक्ति होनेके कारण परमार्थतः माया ब्रह्मसे पृथक नहीं है। यथा विष्णुपुराणमें:—

शक्तिशक्तिमतोर्भेदं वदन्ति परमार्थतः।
अभेदं चानुपश्यन्ति योगिनस्तत्त्वचिन्तकाः॥

मूढ़ जन ही शक्तिरूपिणी माया और शक्तिमान् परमात्माकी पृथकताकी कल्पना करते हैं। परन्तु वास्तवमें शक्ति और शक्तिमान्‌में कोई भी भेद नहीं है। इसलिये तत्त्वदर्शी योगिगण ब्रह्म और मायाकी अभिन्नताकी उपलब्धि करते हैं। इस प्रकार निज महिमामें विराजमान परमात्माके अधिष्ठानसे प्रकृतिके द्वारा जो अनन्त सृष्टिधाराका विस्तार होता है उसमें परमात्माकी अपनी ओरकी कोई भी चेष्टा नहीं है, क्योंकि सृष्टि त्रिगुणतरंगमयी, स्पन्दनधर्मिणी प्रकृतिकी स्वाभाविक स्पन्दनजात स्वाभाविक परिणाममात्र है। इसीलिये श्रुतिमें कहा है:—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्॥

जिस प्रकार उर्णनाभि (मकड़ी) किसी कारणके बिना भी

अपने तन्तुका विस्तार और सङ्कोच करती रहती है, जिस प्रकार पृथिवीमें ओषधि आदि स्वतः ही उत्पन्न होती रहती हैं और जिस प्रकार जीवित मनुष्यके केश, लोम आदि स्वतः ही निकलते रहते हैं उसी प्रकार अक्षरब्रह्मसे समस्त विश्वसंसारको स्वतः ही उत्पत्ति होती रहती है। इसमें परमात्माके ओरकी कोई भी चेष्टा नहीं है। स्वतन्त्रमयी प्रकृति-माता परमपुरुष परमात्माके अधिष्ठानको देखकर पतिको देखकर पतिव्रता सतीकी तरह स्वयं ही अनन्त सृष्टिका विस्तार करती रहती है। इसीलिये गीतामें लिखा है:—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्त्तते॥

परमात्माके अधिष्ठानसे प्रकृति चराचर जगत्को प्रसव करती रहती है और इसी हेतु जगच्चक्रकी अविराम गति बनी हुई है। इन्हीं विषयोंको लेकर श्वेताश्वतरउपनिषद्में स्पष्ट बताया गया है। यथाः—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥

परमात्माका कोई भी कार्य या करण नहीं है, उनके समान या उनसे अधिक कोई भी नहीं है, उनकी पराशक्ति अनेकधा विस्तृत होती है, उनमें ज्ञान, बल, और क्रिया स्वाभाविक है। उनकी ही स्वाभाविकी ज्ञानशक्ति निश्वासरूपसे निकलकर अनन्त ज्ञानभाण्डार-रूपी वेदको प्रकट करती है, उनकी स्वाभाविकी बलशक्ति अनन्त प्राणरूपसे जगज्जीवोंकी जीवनीशक्तिका नियमित विधान करती है और उनकी स्वाभाविकी क्रियाशक्ति अनादिकालसे अनन्तकाल-पर्यन्त जगच्चक्रको अविराम वेगसे घुमाया करती है। वे नित्य,

निरञ्जन, निर्विकार हैं, प्रकृतिमाता ही उनकी स्वाभाविक शक्तियोंको अपनी विविध विलासमयी सत्ताके द्वारा अनन्तरूपसे प्रकट करती है। इसलिये ही द्वितीय मंत्रमें कहा गया है कि, माया प्रकृति है और महेश्वर मायाके अधिष्ठाता मायी हैं; मायाके द्वारा उन्होंके अवयवरूपी जीवोंसे समस्त संसार परिव्याप्त हो रहा है। इस प्रकारसे परमात्माकी सत्ता स्वरूपतः सर्वातीत होनेपर भी मायाके द्वारा सर्वतोव्याप्त, सृष्टिस्थितिप्रलयकारण और अखिल विश्वकी एकमात्र निदान है।

सच्चिदानन्दमय परमात्मा स्वरूपतः सदा एक भावमें विराजमान रहनेपर भी प्रकृति सम्बन्धसे तीन भावमें प्रकट होती है। यथाः—ब्रह्म, ईश और विराट्। श्रुतिमें लिखा है कि:—

सोऽयमात्मा चतुष्पात् पादोऽस्य सर्वभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

परमात्माके चार पाद हैं इनमेंसे एक पादमें सृष्टि होती है और तीन पाद सृष्टिसे बाहर हैं। परमात्माके जिस भावमें सृष्टि नहीं है, जिसके साथ मायाका कोई सम्बन्ध नहीं है, एवं जो भाव मायासे अतीत अव्यक्त और अवाङ्मनसोगोचर है उसको ब्रह्मभाव या निर्गुण ब्रह्म कहा जाता है। उपनिषद्में इस भावका वर्णन किया गया है। यथाः—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति न मनो न विद्मो न जानीमः।

यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्च न॥

ब्रह्म चक्षु वाक् आदि इन्द्रियोंसे और मन बुद्धिसे परे है। मन और वाणी इन्हें प्राप्त नहीं कर सकती, केवल ज्ञानी महात्मा उनका आनन्द-सत्ताको जानकर निर्भय होते हैं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि:—

शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो,
माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना ।
तद्वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो,
ब्रह्मेति यद्विदुरजस्रसुखं विशोकम् ॥

जहाँ क्रियार्थक शब्द किसी कामका नहीं होता है, माया जहाँ-पर पहुँचनेमें असमर्था होकर लज्जासे दूर हट जाती है, संसारके सुखदुःखसे रहित निरवच्छिन्न आनन्दमय वही परमपद निर्गुण ब्रह्मका है ।

ब्रह्मके जिस भावके साथ मायाका सम्बन्ध है अर्थात् जिस भावमें उन्हींके ईक्षणसे शक्तिमती माया संसारके सृष्टि-स्थिति-प्रलय-को करती है, प्रकृतिके साथ सम्बन्धयुक्त उस भावको ईश्वर कहा जाता है वाजसेनीय संहितोपनिषद्में इन दोनों भावोंके वर्णनके लिये एक सुन्दर मन्त्र कहा गया है । यथाः—

सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं ॐ शुद्धमपापविद्धम्
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यद-
धाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

इसमें परमात्माके निर्गुण भावका वर्णन ऊपरके अंशमें किया गया है, इसलिये सब विशेषण क्लीव लिङ्ग बताये गये हैं । यथाः— वे परमात्मा शुक्र अर्थात् शुद्ध हैं, अकाम अर्थात् सूक्ष्म शरीरसे रहित हैं, व्रण और स्नायुशून्य अर्थात् स्थूल शरीरसे रहित हैं, शुद्ध अर्थात् अविद्यामलरहित और अपापविद्ध अर्थात् पुण्य-पाप-सम्बन्ध रहित हैं, इससे तात्पर्य्य यह है कि, परमात्मा कारण-शरीरसे भी रहित हैं । इतना कह करके दूसरे आधेमें परमात्माके सगुण भावका वर्णन किया है । यथा परमात्मा कवि अर्थात् भूत-भविष्यत्-वर्त्तमानदर्शी हैं, मनीषी अर्थात् मनके प्रभु हैं, परिभु अर्थात् सर्वोपरि विराजमान हैं, स्वयम्भु अर्थात् इनके बनानेवाले

कोई नहीं हैं। एतादृश सर्वव्यापी परमात्मा संवत्सराधिपति प्रजापतियोंको ठीक ठीक कर्मफल और कर्त्तव्यविषय विभक्त कर देते हैं। इसी प्रकारसे मायाके साथ सम्बन्ध और मायाके साथ सम्बन्धका अभाव इन दोनों अवस्थाओंके अनुसार ब्रह्मभाव और ईश्वरभावकी सिद्धि श्रुतिमें की गई है। श्वेताश्वतरोपनिषद्में लिखा है कि:—

मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥

प्रकृति माया है और ईश्वर उसके चलानेवाले मायी हैं। उनके शरीरसे ही समस्त संसार व्याप्त है। ये वर्णन परमात्माके सगुण अर्थात् ईश्वर भावका है।

ब्रह्मका तीसरा भाव विराट् है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमय उनका सर्वव्यापी शरीर है उसे विराट् कहते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद्में कहा है। यथा:—

"सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।"
"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।"

उनके पाणिपाद, उनके चक्षु सिर या मुख सर्वत्र हैं, समस्त विश्व उनका ही रूप है, इत्यादि। यह सब विराट् मूर्तिका वर्णन है।

महर्षियोंने इन तीन भावोंको अध्यात्म अधिदैव और अधिभूत करके भी वर्णन किया है। महर्षि वसिष्ठजीने कहा है कि:—

यत्तद्ब्रह्म मनोवाचामगोचरमितीरितम्।
तत्सर्वकारणं विद्धि सर्वात्मानिकमित्यपि॥
अनाद्यन्तमजं दिव्यमजरं ध्रुवमव्ययम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं ब्रह्माग्रे संप्रवर्त्तते॥

स्वेच्छामायाख्यया यत्तज्जगज्जन्मादिकारणम् ।
ईश्वराख्यं तु तत्तत्त्वमधिदैवमिति स्मृतम् ॥
सर्वज्ञः सद्गुरुर्नित्यो ह्यन्तर्यामी कृपानिधिः ।
सर्वसद्गुणसारात्मा दोषशून्यः परः पुमान् ॥
यत्कार्य्यब्रह्म विश्वस्य निधानं प्राकृतात्मकम् ।
विराडाख्यं स्थूलतरमधिभूतं तदुच्यते ॥
यस्येहावयवैर्लोकान्कल्पयन्ति मनीषिणः ।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः ॥

परमात्माकी जो सत्ता मन वाणीसे अगोचर, सर्वकारण, अनादि, अनन्त, अज, दिव्य, अजर, ध्रुव, अव्यय और विचार एवं ज्ञेय सम्बन्धसे बाहर है उसको ब्रह्मभाव या आध्यात्मिक भाव कहते हैं। जिस भावमें उनकी इच्छारूपिणी मायाके द्वारा समस्त संसारकी उत्पत्ति होती है, जो सर्वज्ञ, सबका गुरु, नित्य अन्तर्यामी, करुणामय, सकल सद्गुणोंका आधार, निर्दोष एवं श्रेष्ठभाव है उसे ईश्वर भाव या अधिदैव भाव कहते हैं। और परमात्माका जो कार्य ब्रह्मरूपी समस्त विश्वका आधाररूप स्थूल भाव है उसका नाम विराट् है। इसी भावमें लोकोंकी कल्पना करते समय मनीषी लोगोंने कहा है कि, उनके नाभिके ऊपर सप्तलोक और अधोदेशमें सप्तलोक, इस प्रकारसे चतुर्द्दश भुवन हैं। ये ही परमात्माके तीनों भावोंका संक्षेप दिग्दर्शन हैं।

परमात्माका अध्यात्म अर्थात् निर्गुण ब्रह्मभाव प्रकृतिसे परे होनेपर भी अधिदैव और अधिभूतभाव तटस्थलक्षणवेद्य है। जिस प्रकार सूर्यमें किरणप्रदानशक्ति रहनेपर भी केवल वायुस्तर अथवा अन्य किसी भौतिक वस्तुपर प्रतिफलित होनेसे ही वह शक्ति अपने प्रकाश और प्रभावको दिखा सकती है; जहाँपर कोई आधार (Medium) या उपाधि नहीं है वहांपर उसका प्रकाश नहीं हो

सकता है, ठीक इसी प्रकार परमात्मामें जो ह्लादिनी, सन्धिनी, संवित् अर्थात् सत्, चित् और आनन्दभाव है उसका अनन्तरूपसे संसारमें प्रकाश केवल मायारूपी आधार या उपाधिके द्वारा तटस्थ दशामें ही हो सकता है और इसीलिये निरुपाधिक निर्गुण ब्रह्ममें किसी भाव या शक्तिकी व्यक्तावस्था न होनेपर भी मायोपाधियुक्त सगुण ब्रह्म ईश्वरमें मायाके आधारसे समस्त शक्ति और समस्त भावोंका विकास होता है जिसका अनन्तवर्णन वेदादि शास्त्रोंमें किया गया है। अब नीचे सगुण ब्रह्म ईश्वरके वेदशास्त्रसम्मत कुछ भावोंका वर्णन किया जाता है।

वेदमें ईश्वरको अनन्त विश्वका सृष्टिस्थितिप्रलयकर्त्ता माना गया है।

"जन्माद्यस्य यतः"

इस सूत्रके द्वारा वेदान्तदर्शनमें भी समस्त संसारका जन्मस्थितिप्रलय ईश्वरसे ही प्रमाणित किया है। जड़ माया ईश्वरकी चेतनशक्तिके द्वारा ही चेतनता और क्रियाशीलताको पाकर समस्त विश्वसंसारको प्रसव कर सकती है। ईश्वरकी अनन्त शक्ति तीन भागमें विभक्त होकर अनन्त विश्वकी उत्पत्ति स्थितिप्रलयक्रिया सम्पादन करती है। उनकी रजोगुणमयी सृष्टिकारिणी शक्तिका नाम ब्रह्मा सत्त्वगुणमयी स्थितिकारिणी शक्तिका नाम विष्णु और तमोगुणमयी प्रलयकारिणी शक्तिका नाम रुद्र है। यही संसारकी सर्वस्थितिभङ्गविधायिनी उनकी त्रिमूर्ति है। यथा सूतसंहितामें:—

"भक्तचित्तसमासीनो ब्रह्मविष्णुशिवात्मकः"

भक्तके चित्तमें विराजमान ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूपी उनकी तीन मूर्त्ति हैं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है:—

आसमायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम्॥

गुणमयी निजमायाको आश्रय करके संसारकी सृष्टि, स्थिति, और प्रलय क्रिया सम्पादनके अनुसार ईश्वरकी ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र संज्ञा होती है। परमात्मा ईश्वरकी दृष्टिके नीचे अनन्त विश्वमें अनन्त ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति स्थिति और प्रलय हुआ करता है। यथा योगवाशिष्ठमें:—

> यथा तरङ्गा जलधौ तथेमाः सृष्टयः परे।
> उत्पत्योत्पत्य लीयन्ते रजांसीव महानिले॥
> एकस्यानेकसंख्यस्य कस्याधोरम्बुधेरिव।
> अनन्तब्रह्माण्डलक्षाणि लीयन्ते बुद्बुदा इव॥

जिस प्रकार समुद्रमें तरङ्ग है उसी प्रकार परमेश्वरमें अनेक सृष्टि वायुमें धूलिकणकी तरह आविर्भाव और तिरोभावको प्राप्त हो रही है। वही एक 'ब्रह्म' है जिसके बीचमें समुद्रमें बुद्बुदकी तरह लक्ष लक्ष ब्रह्माण्ड विलीन हो रहे हैं। देवीभागवतमें लिखा है:—

> "संख्या चेद्रजसामस्ति विश्वानां न कदाचन॥"

धूलिकणकी भी संख्या सम्भव हो सकती है परन्तु ब्रह्माण्डोंकी संख्या नहीं हो सकती।

लिङ्गपुराणमें लिखा है:—

> कोटिकोट्ययुतानीशे चाण्डानि कथितानि तु।
> तत्र तत्र चतुर्वक्त्रा ब्रह्माणो हरयो भवाः॥
> असंख्याताश्च रुद्राख्या असंख्याताः पितामहाः।
> हरयश्च ह्यसंख्याता एक एव महेश्वरः॥

अनन्त विश्वके गर्भमें कोटि कोटि और अयुत ब्रह्माण्ड हैं जिनमेंसे प्रत्येकमें चतुर्मुख ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र रहते हैं इस प्रकारसे अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त ब्रह्मा अनन्त विष्णु और अनन्त रुद्र हैं उन सबके ऊपर अद्वितीय महेश्वर विराजमान हैं। अतः सिद्ध हुआ

कि अद्वितीय ईश्वरकी अनन्त शक्ति विश्वसंसारके सर्गस्थितिभङ्ग-विधानके लिये अनन्त ब्रह्माण्डमें अनन्त ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रशक्तिरूपसे व्याप्त है।

बृहदारण्यकोपनिषद्में लिखा है:—

"आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः

सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति"

ईश्वरसे समस्त प्राण, समस्त लोक, समस्त देवतागण और समस्त भूतोंकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकारसे समस्त संसार और समस्त जीव तथा समस्त देवताओंको निज महती शक्ति द्वारा उत्पन्न करके सर्वशक्तिमान् परमेश्वर देवताओंको विश्व-नियमनके लिये पृथक् पृथक् कार्यमें नियुक्त करते हैं और समस्त भूतोंका पालन करते हैं। उनकी अनुशासन शक्तिकी महिमाके लिये कठोपनिषद्में लिखा है:—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।

भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

उनके भयसे अग्निदेव और सूर्यदेव तापदान करते हैं, उनके भयसे इन्द्रदेव, पवनदेव और यमराज निज निज कर्तव्य पालन करते हैं। स्मृतिमें लिखा है:—

यद् भयाद्वाति वातोऽपि सूर्यस्तपति यद्भयात्।

वर्षन्ति तोयदाः काले पुष्पन्ति तरवो वने॥

उन्हींके भयसे वायु प्रवाहित होता है, सूर्यदेव तापकिरणें करते हैं, नियत समयपर वृष्टि होती है और वृक्षमें फूल आते हैं। इस प्रकारसे दैवराज्यका नियमन सर्वशक्तिमान् ईश्वरकी शक्तिसे होता है। ऊपर लिखित सब वर्णनोंसे ईश्वरका ऐश्वर्यमात्र प्रकट होता है। किन्तु उनमें ऐश्वर्यभावके साथ माधुर्यभावका भी अपूर्व समन्वय है। जिस भावमें परमात्मा अदृष्टके विधाता, पापीके

दण्डदाता, साधुओंके परित्राता, धर्मके प्रतिष्ठाता, असुरोंके निहन्ता हैं, यह उनका ऐश्वर्यभाव है। इस भावमें शशिसूर्य उनके नेत्र हैं, अनन्त समुद्र उनका उदर है, प्रवाहिनी स्नायु राशि है, प्रदीप्त हुताशन प्राणमें है, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड रोमकूपमें हैं और लोकक्षयकारी प्रवृद्ध काल स्वरूपमें है। वही महामूर्ति ईश्वरकी ऐश्वर्यसत्ताकी प्रचण्ड विकाशभूमि है। परन्तु उनके माधुर्यभावमें इस प्रकारकी प्रचण्डता नहीं है, प्रत्युत उनके ऐश्वर्यभावमें जिस प्रकार कठोरता है, माधुर्यभावमें ठीक उसी प्रकार कोमलता है। इसभावमें भगवान श्यामल, स्नेहमय, करुणामय और प्रेममय हैं। इस भावमें भक्तके निकट उनका प्राण विक्रीत है, करुणाधारा जाह्नवी यमुनाकरके प्रवाहित है, जीवोंके दुःखनिवारणके लिये स्वयं अनन्त दुःखभोग उनका परम व्रत है। इस भावमें भृगुपदाघात उनके हृदयका भूषण है, द्रौपदीका लज्जा निवारण परम गौरव है, कङ्गालोंको होमाग्निमें समस्त ऐश्वर्यकी आहुतिप्रदान जीवनका महाव्रत है। इस भावमें भगवान भक्तवत्सल प्रभु हैं, करुणामय स्वामी हैं, प्रीतिमय सखा हैं, स्नेहमय पुत्र हैं और प्रेममय कान्त हैं। उपनिषदुमें ईश्वरके ऐश्वर्यभाव वर्णनके साथ साथ मधुरभावका भी वर्णन देखनेमें आता है। परमात्मा माधुर्यभावमें रसरूप हैं, इसलिये उपनिषदुमें कहा है:—

"रसो वै सः"

परमात्माकी कृपासे ही भक्तको मुक्ति प्राप्त होती है इसलिये उपनिषदुमें कहा है:—

"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्"

परमात्मा जिसको वरण करते हैं वही परमात्माको प्राप्त करता है। उसीके निकट परमात्मा निज स्वरूप प्रकट करते हैं। और भी—

"तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः"

उन्हींके प्रसादसे अक्रतु जीव उनकी महिमाको जान कर वीतशोक होता है।

"तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति"

इसी ईशान और वरदाता पूज्यदेवको जाननेसे जीव अनन्त शान्तिका अधिकारी हो जाता है।

"रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यं"

हे भगवन्! तुम्हारा जो दक्षिण मुख है उससे मेरी रक्षा करो। इत्यादि इत्यादि समस्त वर्णन परमेश्वरके माधुर्यभावका प्रकाशक है। परमेश्वरमें इन दोनों भावोंका अपूर्व समन्वय रहनेसे ही परमेश्वर पूर्ण हैं, प्राकृतिक सृष्टि और आत्यन्तिक प्रलय दोनोंके विधानमें समर्थ हैं, द्वैतमय संसारके समस्त द्वन्द्वभावके चरम परिणामस्थान हैं और अनन्त शान्ति तथा आनन्दके चिर निकेतन हैं। यही सगुण ब्रह्म ईश्वरके स्वरूपका पूर्ण परिचय है, जिसका ऐश्वर्य-माधुर्यसमन्वयरूपसे संसारमें पूर्ण भावसे विकाश, केवल भगवान्‌के पूर्णावतार श्रीकृष्णके जीवनमें ही हुआ था। इसीलिये महाभारतका कर्मक्षेत्र, गीताका ज्ञानक्षेत्र और वृन्दावनका भक्तिलीलाक्षेत्र—ऐश्वर्यमाधुर्यके अपूर्व समन्वयरूपसे उन्हींके जीवनमें पाया जाता है। भारत-माता धन्य है जिसको इस प्रकारके पूर्ण पुरुषको कोमल अङ्कमें धारण करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

अब परमात्माके आधिभौतिकभावका और भी कुछ वर्णन किया जाता है। उनका आधिभौतिक स्वरूप अनन्तकोटिब्रह्माण्डमय कार्यब्रह्म है। कारणब्रह्मके साथ कार्यब्रह्मकी अभिन्नता होनेसे कारणब्रह्म परमात्मामें उनकी माया शक्ति द्वारा जो कार्यब्रह्मकी नित्य स्थिति विद्यमान है, वही विराट्रूप परमात्माका

आधिभौतिक स्वरूप है। वेदादि शास्त्रोंमें इस रूपके अनेक वर्णन मिलते हैं। यथा छान्दोग्योपनिषद्में:—

स एव अधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वम्।

परमात्मा नीचे हैं, ऊपर हैं पीछे और सामने हैं, दक्षिण और उत्तरमें हैं, समस्त विश्व वे ही हैं। मुण्डकोपनिषद्में लिखा है:—
अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥

द्युलोक उनका मस्तक है, चन्द्र सूर्य चक्षु हैं, दिक् कर्ण हैं, वेद वाणी है, वायु प्राण है, विश्व हृदय है और पृथ्वी उनका चरण है, यह विराट् पुरुष सकलभूतोंके अन्तरात्मा भी हैं।

श्रीमद्भागवतमें इस विराट रूपका निम्नलिखित वर्णन मिलता है। यथा पाताल उनका पदतल है, रसातल चरणाग्र, महातल गुल्फ, तलातल जङ्घा, सुतल जानु और वितल तथा अतल ऊरुद्वय हैं। भूर्लोक उनका जघन, भुवर्लोक नाभि, स्वर्लोक उरस, महर्लोक ग्रीवा, जनलोक मुख, तपोलोक ललाट और सत्यलोक उनका शीर्ष है। इन्द्रादि देवगण उनके बाहु, श्रोत्रादिके अधिष्ठात्री देवतागण कर्ण, शब्द श्रोत्रेन्द्रिय, अश्विनीकुमारद्वय नासापुट, गन्ध घ्राणेन्द्रिय और हुताशन मुख है। अन्तरीक्ष उनके नेत्रगोलक, सूर्य्य चक्षु, दिवारात्रि अक्षिपत्र, ब्रह्मपद भ्रू, अप् तालु और रस जिह्वा है। वेद उनका ब्रह्मरन्ध्र, यम दंष्ट्रा, स्नेहकला दन्तपंक्ति, जनोन्मादिनी माया हास्य और अपार सृष्टि कटाक्ष है। लज्जा उनका ओष्ठ, लोभ अधर, धर्म स्तन, अधर्म पृष्ठ, प्रजापति मेढ़्र, मित्रावरुण वृषण, समुद्र कुक्षि और पर्वतमाला अस्थि है। नदीसमूह उनकी नाडी, वृक्षसमूह रोम, वायु निःश्वास, काल गति, मेघ केश, सन्ध्या वस्त्र, प्रकृति हृदय और चन्द्र मन है। ब्राह्मण उनका मुख, क्षत्रिय बाहु,

वैश्य ऊरू, शूद्र पाद और यज्ञ कर्म है। इसी प्रकारसे परमात्माके आधिभौतिक भावका वर्णन मिलता है। यही सच्चिदानन्दमय परमात्माके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिकरूप त्रिविध भावका वेदादिशास्त्रसम्मत परमतत्त्व है जिसको ज्ञानदृष्टि द्वारा सम्यक् अवलोकन करके मुमुक्षु साधक कृतार्थ हो सकते हैं।

परमात्माके त्रिविध स्वरूपके विषयमें कुछ दिग्दर्शन कराकर अब उनके अधिदैवस्वरूप ईश्वरके अस्तित्व तथा प्रयोजनके विषयमें कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है। ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें सन्देह करना केवल चित्तविभ्रान्तिमात्र है। क्योंकि, धीर होकर समस्त सृष्टिकी पर्यालोचना करनेसे सृष्टिकर्ता कोई अवश्य होंगे, एतादृश विश्वास और ज्ञान विवेकिजनोंके चित्तमें स्वतः ही उदय होने लगता है। वेदानुमत समस्त शास्त्रोंमें प्रकृतिको जड़ माना गया है।

'जड़रूपा माया'

यह दैवीमीमांसाका सिद्धान्त है। देवी भागवतमें भी लिखा है—

जडाऽहं तस्य सान्निध्यात्प्रभवामि सचेतना।
अयस्कान्तस्य सान्निध्यादयसश्चेतना यथा॥

जिस प्रकार चुम्बकके सान्निध्यमें रहनेसे जड़ लोहामें सञ्चालनशक्ति आती है उसी प्रकार ईश्वरके अधिष्ठानके द्वारा जड़ प्रकृतिमें चेतनाजन्य सृष्टिस्थितिप्रलयशक्ति आती है। परन्तु वास्तवमें प्रकृति जड़ है। प्रकृतिका यह जड़त्व अर्थात् स्वयं कर्तृत्वशक्तिका अभाव केवल समष्टि प्रकृतिमें ही नहीं, अपितु उसके परिणाम—जात पदार्थोंके अङ्ग अङ्गमें देखनेमें आता है। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि आदि प्रकृतिपरिणामसे उत्पन्न समस्त पदार्थ ही जड़ हैं। इनमेंसे किसीमें भी स्वयं कार्य करनेकी शक्ति नहीं है। पृथ्वी स्वेच्छासे भिन्न भिन्न प्रकारका शस्य उत्पन्न नहीं कर सकती,

जल स्वयं नहीं बरस सकता, वायु स्वयं नहीं बह सकता और अग्नि तरह तरहका कार्य नहीं कर सकता। इनके भीतर अवश्य कोई व्यापक चेतन सत्ता होगी, जिनके संचालनसे ये सब जड़ वस्तु निज निज कार्यको करती हैं। वही सर्वव्यापक सर्वाधिष्ठाता प्रकृतिके प्रेरक चेतनसत्ता ईश्वर हैं। इसमें यदि यह सन्देह हो कि, प्रकृतिपरिणामजात पृथ्वी, जल, वायु आदिका स्वभाव ही है कि, शस्य उत्पन्न करे, बरसे, बहे, वा दग्ध करें इत्यादि तो इसका समाधान यह है कि, किसी प्राकृतिक वस्तुका स्वभाव तभी नियमितरूपसे कार्य कर सकता है, जब उसकी नियामक कोई चेतनशक्ति हो। यदि पृथ्वीका स्वभाव ही शस्य उत्पन्न करना हो, तो कब किस देशमें, किस कालमें, तथा किस ऋतुमें कैसा शस्य होना चाहिये इसका नियमन कौन करेगा? यह नियमन जड़ पृथ्वीके द्वारा कदापि नहीं हो सकता है। इसके लिये पृथ्वीके अन्तर्में दूसरी नियामक चेतनसत्ता होनी चाहिये। जड़ स्वभावका परिणाम वा क्रिया अन्धपरिणाम वा अन्धक्रिया है, चेतनसत्ताके अस्तित्वसे ही उसकी अन्धता नष्ट होकर उसमें नियमानुसारिता आ सकती है। जलका स्वभाव बर्साना हो सकता है। परन्तु ऋतुके अनुसार ठीक ठीक बर्साना और जिस देशमें जितनी वर्षा होनी चाहिये वहाँ उसी नियमसे ठीक ठीक बर्साना तभी सम्भव हो सकता है, जब जलराज्यके अन्तर्विहारी कोई चेतन संचालक शक्ति हो। उसी प्रकार वायुमें प्रवाहित होनेका अन्धस्वभाव रह सकता है, परन्तु वसन्तऋतुमें मलयपवन बहना, वर्षामें पूर्व दिशासे प्रवाहित होना, शीत कालमें उत्तरसे वायुका प्रवाह होना, ग्रीष्मऋतुमें पश्चिमसे बहना आदि नियमित वायुप्रवाह अन्ध स्वभावके द्वारा कदापि सम्भव नहीं हो सकता है। इसके लिये अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि,

वायुमण्डलको निमित्त, सञ्चालित करनेवाली कोई नियामक चेतन-सत्ता है। हम संसारके सामान्य कार्यमें देखते हैं कि, जब तक चेतनकी सहायता और प्रेरणा न हो, तबतक किसी जड़ वस्तु द्वारा नियमानुसार कार्य नहीं हो सकता है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि, अग्निमें अवश्य यह शक्ति है कि, जलको वाष्प बनाकर उसी वाष्पके द्वारा नाना प्रकारके यन्त्र और इञ्जिन आदि चला सके। परन्तु जिस हिसाबसे वाष्प बननेपर और जिस तरहसे इञ्जिन या मशीनमें उसके संयोग होनेपर वह इञ्जिन या मशीन ठीक ठीक कार्य कर सकेगी, वह हिसाब या नियमानुसार वाष्पसंयोग करनेकी शक्ति जड़ अग्निमें नहीं है। वह शक्ति अग्निका नियोग तथा वाष्पका संयोग करनेवाले चेतन मनुष्यमें ही है, जो नियमके अनुसार जलमें अग्निसंयोग द्वारा वाष्प बनाता है और उसी वाष्पको हिसाबके साथ प्रयोग करके समस्त वाष्पीय यानों तथा यन्त्रोंको चलाता है। इसमें और भी विचारनेका विषय यह है कि, यद्यपि वाष्पमें इञ्जिन चलानेकी और इञ्जिनमें गाड़ी खींचनेकी शक्ति है तथापि यदि जड़ इञ्जिनका चलानेवाला कोई चेतन मनुष्य न होगा तो योग्य शक्तिसे निर्दिष्ट समयानुसार रेलगाड़ीका चलना, नियमित स्टेशनपर ठहरना, पुनः नियमित वेगके अनुसार स्टेशनसे चलना, आवश्यकतानुसार वेगका न्यूनाधिक्य होना इत्यादि बातें कभी जड़ इञ्जिनके द्वारा स्वतः नहीं हो सकती हैं। जड़ अन्धशक्तिसे यह हो सकता है कि, यदि इञ्जिन चल पड़े, तो चलता ही रहेगा कभी ठहरेगा नहीं और यदि कभी ठहर जाय तो फिर चल नहीं सकेगा। अतः नियमित चलने,ठहरने तथा वेगवान् होनेके नियामक किसी चेतनशक्तिके अधिष्ठानकी अवश्य ही आवश्यकता होती है। अब विचार करनेका विषय यह है कि, जब संसारके साधारण लौकिक कार्यके नियमित चलानेके लिये भी चेतनसत्ताकी

आवश्यकता होती है तो इस अनादि अनन्त प्रकृतिका महान् सृष्टि-स्थितिकार्य, जिसमें इतना अमोघ नियम सदा ही प्रत्यक्ष हो रहा है कि, एक पत्ती तक उसी नियमके बिना हिल नहीं सकती है। उसमें कोई सर्वव्यापी नियामक चेतन सत्ता नहीं है, इस प्रकार कल्पना करना उन्मत्त चिन्ता और उन्मत्त प्रलापके सिवाय और कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। यदि जड़ प्रकृतिके संचालक या अधिष्ठाता चेतन ईश्वर न होते तो कभी अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमयी विराट् प्रकृतिमें सृष्टिस्थितिप्रलयका नियमित क्रम नहीं रह सकता। सृष्टिस्वभावमयी प्रकृति अनन्त कालतक सृष्टि ही करती रहती, कभी प्रलयका समय नहीं आता और यदि कभी प्रलय हो जाता, तो प्रलयके गर्भसे नियमानुसार तथा निर्दिष्ट कालानुसार पुनः सृष्टिका उदय नहीं हो सकता, जीवों की कर्मानुसार उच्च नीच गति, रवि शशिका नियमित उदय, ऋतुओं-का नियमित विकाश, शस्यसमृद्धिकी नियमित देशकाल पात्रानुसार उत्पत्ति, दिवारात्रि, अमानिशा और पौर्णमासीका यथावत् परिवर्तन चन्द्रकलाका नियमित विकाश, भगवान् भास्करका राशिचक्रमें नियमित संक्रमण आदि सर्वतोजाज्वल्यमान प्राकृतिक कोई भी क्रिया नियमित संघटित नहीं हो सकती। यह सभी विश्वनिदान, विश्व-कर्त्ता, जगत्पाता, अनन्तकरुणावरुणालय परमपिता ज्ञानस्वरूप चैतन्यमय परमेश्वरकी अनादि अनन्त प्रकृतिके अन्तर्हृदयमें सर्व-व्यापिनी नित्यस्थिति और अधिष्ठानका कल्याणमय फल है जिसको श्रद्धावान् भक्तजन प्रति मुहूर्त्तमें अनुभव करके परमानन्दसागरमें लवलीन हो सकता है, मिथ्या कुतर्ककर्कशचित अज्ञानीजनोंके अन्ध-कारमय हृदयमें इस ज्ञानज्योतिका विस्तार होना कठिन तथा उन्हींके कृपाकटाक्षसापेक्ष है। जैन और बौद्धदर्शनशास्त्र सूक्ष्म-जगत्में प्रवेश करनेका सामर्थ्य रखनेपर भी और उनके द्वारा कोटि

कोटि मनुष्योंको उन्नति साधन होते रहनेपर भी केवल इस अधि-दैवसत्ताका अनुभव जैन और बौद्धधर्मके प्रचारकोंको न होनेके कारण उनके सिद्धान्तसमूह असम्पूर्ण रह गये हैं। वैदिक दर्शन-शास्त्रोंमें परमात्माके अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत तीनों विभावोंको विस्तृतरूपसे प्रकट करनेका सामर्थ्य रहनेपर ही और ब्रह्म, ईश्वर तथा विराट् इन तीनों भावस्वरूपभावोंका यथार्थ दर्शन वैदिक आचार्योंको होनेके कारण ही वैदिक दर्शन और वैदिक धर्म पूर्ण कहा गया है। सच्चिदानन्दमय ब्रह्म, निष्क्रिय, सर्वव्यापक, पूर्ण, अलक्ष्य, अपरिणामी और अद्वितीय भावयुक्त हैं। उनकी सच्चिदानन्दमय विभावयुक्त सत्ता एक अद्वितीय सत्तारूपमें रहते समय वे ही ब्रह्मनामसे अभिहित होते हैं। पुनः उन्हींके विभावमें वही सच्चिदानन्दसत्ता ब्रह्मभावमें चिद्भावमय और विराट्भाव-में सद्भावमय योगीको प्रतीत होने लगती है। योगिराज अपने अलौकिक योगप्रयत्न द्वारा उन्हींकी आनन्दसत्ताको आनन्दरूप ईश्वरभावमें प्रत्यक्ष किया करते हैं। बिना इसीके आनन्दका पूर्णविकाश और आनन्दका पूर्ण आस्वादन नहीं हो सकता है। यद्यपि अद्वितीय ब्रह्मभावमें सत्, चित् और आनन्द तीनों भाव एक ही भावमें परिणत हैं, यद्यपि सत्, चित् और आनन्द तीनों भाव ही तत्वातीत ब्रह्मभावमें हैं, परन्तु ईश्वरभावके अनुभवमें एक ओर चिद्भावमय ब्रह्मभाव और दूसरी ओर सद्भावमय विराट्भावका अनुभव विद्यमान रहनेसे परमानन्दका आधारभूत ईश्वरभावका दर्शन योगिराज सिद्ध महात्माओंको होता है। जगदीश्वर आनन्दरूप हैं, इस कारण उनसे आनन्दलीलापूर्ण यह सृष्टिप्रकट हुई है। इसी कारण उपासनाराज्यमें ईश्वरभावको ही प्रधान माना गया है। वास्तवमें तीनों भाव एक ही परमात्माके होनेपर भी ईश्वरकी महिमा जगत्में सर्वोपरि है। और इसी लिये वैदिक सप्त दर्शनोंमें

किसी न किसी रूपसे ईश्वरसत्ताके विषयमें बहुधा वर्णन किया गया है जिसका विस्तृत रहस्य ग्रन्थान्तरमें * द्रष्टव्य है। यही वेदादि शास्त्र सम्मत आत्मतत्त्व है।

जीवतत्त्व।

आत्मतत्त्वके विषयमें दिग्दर्शन कराकर अब जीवतत्त्वके विषयमें संक्षेपसे विचार किया जाता है।

अनादि अनन्त सृष्टिप्रवाहके भीतर जीवभावका विकाश एक अलौकिक वस्तु है जिसको प्रकृतिके अन्तर्राज्यमें विचरणशील भीरयोगी ही समझ सकते हैं। महाप्रलयके अनन्तर प्रथमाख्य-सृष्टिके समय जो सनक, सनन्दन और सनत्किमारसे जीवसृष्टि होती है वह जीवकी नई सृष्टि नहीं है, परन्तु महाप्रलयके गर्भमें पूर्वकल्पमें विलीन जीवोंका पुनर्जन्ममात्र है। परन्तु अनादि अनन्त महाप्रकृतिकी सृष्टिधारामें जो जीवकी उत्पत्ति होती है वह एक अलौकिक नई वस्तु है जिसके लिये श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है:—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्म उच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥

त्रयविनाशविहीन सर्व कारण परमब्रह्म ही अक्षर पुरुष हैं। उनके ऊपर नित्य परिणाममयी महाप्रकृतिकी जो अनादि अनन्त सृष्टिलीलाका स्वाभाविक विस्तार है वही अध्यात्म है और उसी

---

* सप्तदर्शनानुसार ईश्वरसत्ताका वर्णन धर्मकल्पद्रुममें द्रष्टव्य है।

नित्य आध्यात्मिक सृष्टिशीलाके बीचमें एक एक व्यष्टिजीवकेन्द्रकी उत्पत्तिके लिये जो नित्य प्रवाहमें नैमित्तिक परिणाम है उसीका नाम कर्म है। जिस प्रकार सच्चिदानन्दमय कारणब्रह्म अनादि और अनन्त हैं उसी प्रकार कार्यब्रह्म अनादि अनन्त विराट्‌देह विभावात्मक और त्रिगुणात्मक होनेपर भी प्रवाहरूपसे अनादि और अनन्त है। विभाव और त्रिगुणके कारण उस आध्यात्मिक सृष्टिप्रवाहमें प्रकृतिके स्वस्वभावका जो विसर्ग है वही जीवोत्पत्तिका कारण है।

"अहं ममेतिवत्"

ब्रह्मकी तरह ब्रह्मकी शक्ति साम्यावस्थामें अविकार और एक रूप रहती है। परन्तु प्रकृतिके स्वाभाविक विलासके अनुसार ब्रह्मके सद्भाव और चिद्भावकी पृथकतासे जब आनन्दभावका विकाश हो जाता है उसी समय द्वैतभावके अनुभवके साथ ही साथ प्रकृतिकी साम्यावस्थामें जो वैषम्य उत्पन्न होता है उसीको प्रकृतिके स्वभावका विसर्ग समझना उचित है। प्रकृतिकी इसी दशाके साथ जीवोत्पत्तिविज्ञानका सम्बन्ध है। अब अनादि अनन्त आध्यात्मिक सृष्टिधाराके बीचमें इस प्रकार जीवकेन्द्रका विकाश कैसे होता है सो विचार करने योग्य है। मायातीत, गुणरहित, क्रियाहीन, निर्विकार ब्रह्मभावमें सत्, चित् और आनन्दसत्ता एक रसमयसत्तामें लवलीन रहती है। उस समय सृष्टिविलासका कोई चिह्नमात्र भी नहीं रहता है। परन्तु जिस भावमें महेश्वर मायी हैं अर्थात् मायाके अधिष्ठाता हैं और अनादि अनन्त प्रकृति-माता मायी महेश्वरके सामने अपने अपूर्व लीलाविलासको बताती हैं, वहां पर सत्, चित् और आनन्दसत्ता एकरससत्तामें लवलीन न होकर पृथक् पृथक् विभावको प्राप्त करती हैं। उस भावमें सत्का विलास चित्‌के आश्रयसे अनादि अनन्त सृष्टिके

रूपमें और चित्‌का विलास सत्‌के अवलम्बनसे कार्यब्रह्मरूपी विराट्‌के भीतरसे हुआ करता है और आनन्दका विलास सत् और चित् दोनोंमें ओतप्रोत होकर दोनोंके आश्रयसे हुआ करता है। स्वाभाविक अनादि अनन्त अध्यात्म सृष्टिधाराका विलास इसी भावमें होता है। यह भाव नित्य है इसलिये आध्यात्मिक सृष्टि भी नित्या है। इसी नित्या स्वाभाविक आध्यात्मिक सृष्टिमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्डसमूहसमन्वित अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड शोभायमान हैं। इसका न तो प्रलय है और न नाश है। प्रलय इस सृष्टिधाराके बीचमेंसे एक एक ब्रह्माण्डका हुआ करता है जिसको महाप्रलय कहते हैं। महामाया कारणब्रह्म महेश्वरकी वही महाशक्ति है, जो महेश्वरके सत्‌भावको आश्रय करके इस प्रकार अनादि अनन्त आध्यात्मिक सृष्टिलीलाको दिखाया करती है। इस सृष्टिमें महामाया और महेश्वरमें कोई पारस्परिक बंधन नहीं है। दोनों ही स्वाभाविक रूपसे एक दूसरेके आश्रयसे जगज्जन्मादिकारण अपने अपने अलौकिकभावको प्रकट करते हैं। साधनाके क्रममें राजयोगी जब इन दोनों भावोंको एक अद्वितीय भावमें मिलाकर अनुभव कर सकते हैं तभी उनकी मुक्ति होती है। तभी वे महाप्रकृतिके प्रवाहमें अपनेको प्रवाहपतितरूपसे डालकर अनन्तशान्ति और अनन्त आनन्दको प्राप्त कर सकते हैं। इसी दशामें उस जीवन्मुक्त महापुरुषका विदेह लय होता है। इसीको ब्रह्मसद्भाव, कैवल्य, निर्वाण आदि नामसे शास्त्रोंने अभिहित किया है। इसी मुक्तदशाप्राप्त जीवकी प्रकृति तब शान्त हो जाती है। अर्थात् वसके अंशकी प्रकृति तब उसको छोड़कर महाप्रकृतिके विराट्स्वरूपमें मिल जाती है। इसी दशाको लक्ष्य करके वेदान्तदर्शनने मायाको अनादि और सान्त प्रतिपादित किया है। अब इस अनादि अनन्त नित्य अध्यात्म स्वाभाविक सृष्टिधाराके बीचमें एक एक व्यष्टि जीवकेन्द्रका विकाश कैसे होता

है सो बताया जाता है। मीमांसादर्शनमें जीवभावके विकासके विषयमें कहा गया है कि:—

"चिज्जडग्रन्थिर्जीवः"

"तद्भेदनाद्भयविमुक्तिः"

चित् और जड़की जो ग्रन्थि है इसको जीव कहते हैं, इस ग्रन्थिके भेद हो जानेसे चित् और जड़ दोनोंकी मुक्ति हो जाती है। चित् और जड़में यह ग्रन्थि कब और कैसे होती है, इसका निर्णय होना चाहिये। यह बात पहले ही कही गई है कि, ब्रह्मप्रकृतिरूपिणी जड़माया कारणब्रह्मके सद्भावके आश्रयसे अपने लीलाविलासको बढ़ाती हैं। इस लीलाविलासके बढ़ाते समय परिवर्तनशीला प्रकृतिमें दो धाराएँ चलती हैं। एक तत्त्वसे चित्की ओर और दूसरी चित्से तत्त्वकी ओर अर्थात् एक जड़से चेतनकी ओर और दूसरी चेतनसे जड़की ओर। एक सामान्य दृष्टान्तके द्वारा इसको ऐसे समझ सकते हैं कि, यदि कोई वृक्ष मर जाय, तो उसके अन्तर्गत चेतन अंशका क्या होगा? वह अंश क्रमोन्नतिको प्राप्त होता हुआ क्रमशः अव्यक्त वृक्षयोनिके भीतरसे ऊपर आयगा। तदनन्तर वृक्षयोनिको समाप्त करके स्वेदज, अण्डज और जरायुज योनिक्रमसे उन्नत होता हुआ अन्तमें मनुष्ययोनि प्राप्त करेगा और मनुष्ययोनिमें भी उन्नति करता करता चरम उन्नति उसकी यह होगी कि, वह चेतन अंश प्रकृतिकी अन्तिम सीमापर पहुँच कर प्रकृतिसे अतीत निर्गुण ब्रह्मभावमें मिल जायगा, जहां पर पुनः उसमें उन्नति या अवनतिमूलक कोई भी परिणाम नहीं हो सकेगा अर्थात् वह चेतन-मुक्त हो जायगा। यही प्रकृतिराज्यमें जड़से चेतनकी ओर अग्रसर होनेकी धारा है। परन्तु चेतनसे जड़की ओर जो धारा चलती वह इस प्रकार नहीं है। इसको वृक्षके दृष्टान्तपर इस प्रकारसे समझ सकते हैं कि, वृक्षके मर जानेपर यद्यपि इसमेंका

चेतन अंश ऊपरकी ओर क्रमोन्नति करता रहेगा तथापि उसका पञ्चभूतमय जड़ प्राकृतिक अंश ऊपर नहीं जा सकेगा। वह क्रमशः आणविक विकर्षण क्रियाके अधीन होकर नीचेकी ओर अर्थात् प्रकृतिके जड़ भावकी ओर ही गिरता आयगा। अर्थात् सूखे वृक्षके पत्ते और काष्ठ आदिके परमाणु परिणामको प्राप्त होकर मिट्टी, पत्थर आदिमें परिणत हो आयँगे। प्रकृतिके चेतनभावकी ओर तो एक सीमा है जिससे चेतन अंश क्रमशः प्रकृतिके सात्त्विक-राज्यकी ओर अग्रसर होता हुआ अन्तमें प्रकृतिराज्यको छोड़कर ब्रह्ममें मिल सकता है। परन्तु प्रकृतिके जड़राज्यकी ओर तो ऐसी कोई सीमा नहीं है। इसलिये जो धारा प्रकृतिके जड़राज्यकी ओर अग्रसर होती हुई अन्तमें प्रकृतिकी पूर्ण तामसिक सीमापर पहुँच जायगी वहां उस धाराकी गति कहां होगी? वहां वह धारा तमोगुणकी शेष सीमातक पहुंचकर आगे जानेका रास्ता न पाकर, जिस प्रकार समुद्रका तरङ्ग तटभूमितक पहुँच कर पुनः समुद्रकी ओर ही लौटता है, उसी प्रकार जड़से चेतनकी ओर जा, तमोगुणराज्यसे रजोगुणराज्यकी ओर ही लौट आवेगी। इस प्रकारसे जब प्रकृतिके सत्‌भावकी धारा चिद्भावकी ओर अर्थात् जड़भावकी धारा चेतनभावकी ओर अग्रसर होने लगती है उस समय उस जड़भाव या अविद्याभावके भीतरसे चिद्भावकी ज्योति प्रतिफलित होने लगती है। वही अविद्यामें प्रतिफलित अतिक्षीण चित्‌सत्ताकी ज्योति या प्रतिबिम्बरूप जीवात्मा है जिसके साथ अविद्याके अहंभावका सम्बन्ध हो जाता है। उस अवस्थाको समझानेके लिये और कुछ विस्तारसे कहनेकी आवश्यकता है। यह संसार त्रिगुणात्मक है। जड़ और चेतनकी दो धाराओंके साथ स्वभावतः तम और सत्त्वगुणका सम्बन्ध है। मुक्तात्मा जीवन्मुक्तमें सत्त्वगुणकी पूर्णता और मिट्टी पत्थर आदिमें

तमोगुणकी पूर्णताका उदाहरण समझने योग्य है। सत्त्वगुणका लक्षण प्रकाश है। इस कारण सत्त्वगुणके परिणाममें आत्माके स्वरूपका प्रकाश होना स्वाभाविक है। परन्तु तमःमें अज्ञानका सम्बन्ध रहनेके कारण जड़भावमें जब विरुद्ध परिणाम होगा, उस अवस्थामें तमोगुणमें अपेक्षाकृत सत्त्वगुणके उदयके साथ ही साथ चित्भावका विकाश होना स्वतः सिद्ध है। अर्थात् पूर्णजड़में जब विरुद्ध परिणाम उत्पन्न हुआ उसमें जैसा जैसा सत्त्वगुणविकाशका अवसर मिलता गया वैसा वैसा ही चित्‌का प्रकाश प्रतिफलित होता जायगा। चित्‌के प्रथम विकाशके साथ ही साथ चित्जड़-ग्रन्थि उत्पन्न होगी। जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश सकल स्थानोंमें रहनेपर भी मलिन दर्पणमें सूर्यका प्रतिबिम्ब नहीं आ सकता है, परन्तु उसी दर्पणकी मलिनता जितनी जितनी दूर होती जाती है सूर्यका प्रतिबिम्ब भी दर्पणमें उतना उतना भासमान होता जाता है, ठीक उसी प्रकार आत्मचैतन्यका विकाश जड़चेतनात्मक समस्त विश्वके सर्वत्र रहनेपर भी प्राकृतिक जड़भावकी पूर्णतामें आत्म-चैतन्यका विकाश नहीं देखनेमें आता है, परन्तु प्राकृतिक प्रवाहकी स्वाभाविक गतिके अनुसार जब जड़भावकी गति तमोगुणसे ऊपरकी ओर या सत्त्वसे चित्‌की ओर होने लगती है, तभी सत्त्वके ऊपर चित्‌का प्रतिबिम्ब भासमान होने लगता है। यही मीमांसा-दर्शनकथित चित् और जड़के ग्रन्थिरूप जीवभावका विकाश है। जिस प्रकार अग्निमें पूर्ण दाहिकाशक्ति रहनेपर भी भस्माच्छादित अग्निके द्वारा उस प्रकार दहनकार्य्य नहीं हो सकता है, ठीक उसी प्रकार आत्मामें पूर्ण ज्ञान और पूर्ण शक्ति रहनेपर भी जड़के साथ ग्रन्थि द्वारा अविद्याच्छन्नकारणक्षीणविकाशयुक्त आत्मामें पर-मात्माका वह पूर्ण ज्ञान विकाशप्राप्त न होकर प्रच्छन्न हो जाता है। इसीसे अविद्योपहित चैतन्य जीवात्मा अपने ज्ञानमय यथार्थ

स्वरूपको भूलकर प्रकृतिसम्पर्क द्वारा बद्ध हो प्राकृतिक सुख-दुःख-मोहात्मक समस्त भावांके साथ अपनेको भावित करके संसारमें औपचारिक बन्धनको प्राप्त हो जाते हैं। यही अहंके साथ ग्रंथि द्वारा चित्‌की स्वरूपविस्मृति और बन्धनका कारण है। इसी कारण वेदान्तदर्शनने अविद्याको भी अनादि और सान्त कहा है। किसी चक्रके आवर्त्तनके समय हम लोग देखते हैं कि, उस आवर्त्तनमें सदा ही दो गति रहा करती है अर्थात् चक्रका एक अंश जब ऊपर-को आता है, तो उसी समय दूसरा अंश नीचेको आता है और जब दूसरा अंश ऊपरको आता है तो प्रथम अंश नीचेको जाता है। अन्नादयप्रकृतिकी गति भी चक्रावर्त्तकी तरह है, इसलिये इसमें सत्‌से चित्‌को ओर और चित्‌से सत्‌की ओरकी गति प्रतिनियत स्वाभाविकरूपसे होती रहती है और इसी सत्‌से चित्‌की ओरकी गतिमें जीवधाराका भी अनन्त विकाश होता रहता है। इसीसे जीवधारा प्रवाहरूपसे अनादि अनन्त और स्वाभाविक है। जिसको गीतामें—

"स्वभावोऽध्यात्म उच्यते"

ऐसा कहा है। परन्तु एक एक जीवका केन्द्र प्रकृतिकी सीमा-पर जाकर चित्‌में विलय प्राप्त होनेसे व्यष्टिजीवधारा सादि सान्त है और इसलिये आध्यात्मिक सृष्टि नित्य होनेपर भी एक एक जीवकी मुक्ति हो सकती है। यथा—कर्ममीमांसादर्शनमें:—

"तस्मादनादनन्ता जीवधारा"

"सादित्वसान्तत्वात्संस्कारस्य तन्मुक्तिः"

अध्यात्म सृष्टिमें जीवधारा अनादि अनन्त है, परन्तु व्यष्टि सृष्टिमें जीवसंस्कारके सादि सान्त होनेसे जीवकी मुक्ति होती है।

ऊपर लिखित विज्ञानके द्वारा यह सिद्ध हुआ कि, तमोभावकी अन्तिम सीमासे जब प्रकृतिका प्रथम परिणाम होता है उस समय

अविद्याविशिष्ट क्रमोद्ध्वंगतिशील प्रकृतिमें जो चित्सत्ताके आभासका उदय होता है वही जीवात्मा है। वह आभास अविद्यालुन्न होनेसे अपने यथार्थ स्वरूपको प्रकट नहीं कर सकता है, इसलिये उनका नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव प्रच्छन्न होकर प्रकृतिसम्पर्कजनित बन्धनभावका समावेश उसमें हो जाता है। प्रकृति अपनी क्रमोन्नतिशील शक्तिके अनुसार अविद्यात्वसे विद्यात्वकी ओर जितनी अग्रसर होती जाती है प्रकृतिप्रतिबिम्बित वह चेतनसत्ता भी उतनी ही अविद्यामेघनिर्मुक्त होकर अपने स्वरूपके ज्ञानको प्राप्त करती जाती है। यही प्रकृतिप्रवाहमें जीवक्रमोन्नतिकी धारा है। इस प्रकार प्रकृतिको ऊर्द्ध्वंगतिके साथ अपने यथार्थ स्वरूपका ज्ञानलाभ करते करते जब प्रकृति अपने सात्त्विक प्रवाहके अन्तमें पहुंचकर चित्सत्तामें लय हो जाती है, उस समय पूर्णरूपसे प्रकृतिके आवरणसे निर्मुक्त जीवात्मा भी अपने पूर्ण स्वरूपको अनुभव कर लेता है और उसी समय उसको यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि, वह नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है और निर्विकार पूर्ण ज्ञानमय सच्चिदानन्दसे उसका कोई भी भेद नहीं है। जो कुछ भेदका भाव उसके भीतर अबतक था, सो केवल प्रकृतिके द्वारा ज्ञानके आवृत रहनेसे भ्रान्तिमूलक ही था। उसी समय जीव अपने यथार्थ स्वरूपको पहचानकर कह सकता है कि, 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूं। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंकी चरितार्थता जीव निजभावमें उसी समय कर सकता है।

ऊपर वर्णित विचारोंके द्वारा यह सिद्ध हुआ कि, जीव और ब्रह्म स्वरूपतः अभिन्न हैं—उनमें भेद केवल अविद्योपाधिके कारण ही है। वास्तविक दोनोंमें कोई भेद नहीं है। ब्रह्ममें सद्भाव, चिद्भाव और आनन्दभाव सुव्यक्त हैं, जीवमें ये तीनों भाव मायाके द्वारा आच्छन्न होनेके कारण अव्यक्त या ईषदुव्यक्त हैं। मायाका

आवरण जीवके ऊपरसे ज्ञान द्वारा जितना तिरोहित होता जाता है उतना ही सत्, चित् और आनन्दभाव उसमें व्यक्त होता जाता है और अन्तमें जिस समय मायाका आवरण एकबार ही जीवपरसे तिरोहित हो जाता है उस समय उसका सत्, चित् और आनन्द-भाव पूर्ण व्यक्तताको प्राप्त हो जाता है। उसी समय जीव कह सकता है कि, 'सोऽहं' 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूं। इसीलिये श्रुतिने कहा है:—

"ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"

"ब्रह्म सन् ब्रह्म अवैति"

जीव ब्रह्मको जानकर तब ब्रह्म होता है, ब्रह्म होकर तब ब्रह्मको जानता है।

वेदान्तशास्त्रमें आत्माकी जो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय इन चार दशाओंका वर्णन है उनमेंसे जाग्रत् दशामें स्थूलप्रकृतिके साथ और स्वप्नदशामें सूक्ष्मप्रकृतिके साथ आत्माका अभिमान सम्बन्ध रहता है जिससे प्रथम अवस्थामें स्थूल संसारके और द्वितीय अवस्थामें सूक्ष्म संसारके भोक्तारूपसे आत्मा अविद्योपाधि द्वारा प्रकट रहते हैं। तुरीयावस्थामें प्रकृतिसम्पर्कको परिहार करके ब्रह्मके साथ मिलकर ब्रह्मभावमें आत्माका अवस्थान होता है जैसा कि, इससे पहले कहा गया है। इस प्रकार स्वरूपमें अवस्थितिके बाद आत्माकी प्रकृतिकी ओर पुनरावृत्ति नहीं होती है, परन्तु सुषुप्ति अवस्थामें स्थूल सूक्ष्म प्रकृतिको छोड़कर प्रतिबिम्बभूत जीवका बिम्बभूत ब्रह्मके साथ जो एकभावमें अवस्थान होता है वह नित्य नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिके अनन्तर जाग्रद्दशाके उदय होते ही जीव पुनः संसारकी ओर प्रत्यावर्त्तन करता है। इसलिये वेदान्तदर्शनमें सूत्र है:—

"तदभावो नाडीषु तच्छ्रु तेरात्मनि च"

"अतः प्रबोधोऽस्मात्"

महर्षि वेदव्यासके ये दो सूत्र श्रुतिसम्मत हैं यथाः—

"य एषोऽन्तर्हृदये आकाशस्तस्मिन् शेते"—बृहदारण्यके।

"सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति"

"सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे"

"सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्येतं ब्रह्मलोकं

न विन्दन्ति अनृतेन हि प्रत्यूढाः"—छान्दोग्ये।

अन्तर्हृदयमें जो आकाश अर्थात् ब्रह्म है उसमें जीव सुप्त होता है। इस समय जीव सत् अर्थात् ब्रह्मके साथ मिलित होता है। सकल जीव इस प्रकारसे प्रतिरात्रि सुषुप्तिमें ब्रह्मलोक प्राप्तकर प्रातः काल वहांसे लौट आते हैं। अविद्याकी उपाधिके कारण जीवको इस प्रकार ब्रह्मलोक गमनकी बात स्मरण नहीं पड़ती है। जीवके इस मिलनके साथ विच्छेद है। इसलिये यह मिलन आत्यन्तिक सुख-प्रद नहीं है। इसी कारण प्रायसच्चा निविज्ञानन्दनिकेतन ब्रह्मके साथ चिरसम्मेलनके लिये जीव सदा ही लालायित रहता है। जब जीवकी यह हार्दिकी इच्छा परिपूर्ण होती है तभी जीव ब्रह्मसे मिलकर ब्रह्मके साथ अपने एकत्वकी साक्षात् उपलब्धि कर सकता है। यथा वेदान्तदर्शनमें:—

"आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च।"

"अहं ब्रह्मास्मि" "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि महावाक्यैस्तत्त्व-विद् आत्मत्वेनैव ब्रह्म गृह्णन्ति तथा "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्यैः स्वशिष्यान् ग्राहयन्त्यपि।

तत्त्वज्ञानिगण "मैं ब्रह्म हूं" "यही आत्मा ब्रह्म है" इत्यादि महावाक्योंके द्वारा जीव और ब्रह्मकी एकताका अनुभव करते हैं और 'तुम ही ब्रह्म हो' इत्यादि महावाक्य द्वारा शिष्यको जीव और ब्रह्म-की एकताका अनुभव कराते हैं। इस प्रकार अवस्थाकी प्राप्ति जीव-

को कैसे होती है? इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीभगवान् वेदव्यासजीने वेदान्तसूत्रमें लिखा है:—

"पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ"

"देहयोगाद्वा सोऽपि"

इनके भाष्यमें भगवान् शङ्कराचार्यने लिखा है:—

"कस्मात् पुनर्जीवः परमात्मांश एव संतिरस्कृतज्ञानैश्वर्यो भवति? सोऽपि तु ज्ञानैश्वर्यतिरोभावो देहयोगाद् देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादियोगाद् भवति। अस्ति चात्र चोपमा। यथा चाग्नेर्दहनप्रकाशनसंपन्नस्यापि अरणिगतस्य दहनप्रकाशने तिरोहिते भवतो यथा वा भस्माच्छन्नस्य। अतोऽनन्य एवेश्वराज्जीवः सन् देहयोगात्तिरोहितज्ञानैश्वर्यो भवति। तत्पुनस्तिरोहितं सत् परमेश्वरमभिध्यायतो यतमानस्य जन्तोर्विधूतध्वान्तस्य तिमिरतिरस्कृतेव दृक्शक्तिरौषधवीर्यादीश्वरप्रसादात् संसिद्धस्य कस्यचिदाविर्भवति न स्वभावत एव सर्वेषां जन्तूनाम्। कुतः? ततो हि ईश्वराद्धेतोरस्य जीवस्य बन्धमोक्षौ भवतः। ईश्वरस्वरूपापरिज्ञानाद् बन्धस्तत्स्वरूपपरिज्ञानात्तु मोक्षः।"

जीव जब ब्रह्मका अंश है, तो उसमें ज्ञानैश्वर्यका अभाव क्यों देखनेमें आता है? देहसम्बन्धवशात्। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिके साथ संयुक्त होनेसे जीवका ईश्वरभाव तिरोहित हो जाता है, जिस प्रकार काष्ठगत अथवा भस्माच्छादित अग्निमें दहन और प्रकाशशक्ति तिरोहित हो जाती है। इस कारण जीव ईश्वरसे पृथक् न होनेपर भी देहयोगवशात् अनीश्वरभावको प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार तिमिररोगग्रस्त नष्टदृष्टि मनुष्यकी दृष्टिशक्ति औषधिके गुणसे उसको पुनः प्राप्त हो जाती है, बिना प्रयास प्राप्त नहीं होती है, ठीक उसी प्रकार तिरोहितशक्ति जीव ब्रह्मके अभिध्यानमें यत्नशील होकर उनके प्रसादसे सिद्धिलाभ करनेपर

अपने तिरोहित ऐश्वर्यको पुनः प्राप्त करता है। क्योंकि ईश्वरसे ही जीवका बन्ध-मोक्ष है। ईश्वरस्वरूपके अज्ञानसे बन्ध और ज्ञानसे मोक्ष है। यही जीव और ब्रह्मका औपाधिक प्रभेद, स्वरूपतः एकता, स्वरूप प्राप्तिका उपाय और प्रतिबिम्ब और अवच्छिन्न-वादका रहस्यपूर्ण समाधान और समन्वय है, जिसको ब्रह्मवेत्ता श्रीगुरुदेवसे प्राप्त होनेपर साधक सर्वथा परिच्छिन्न साम्प्रदायिक भावोंसे मुक्त होकर आत्मसाक्षात्कार लाभ कर सकते हैं। उनकी हृदयग्रन्थि भिन्न हो जाती है। संशयजाल छिन्न हो जाता है और अनादि संस्कारचक्र चिरकालके लिये निरस्त होकर उनको परम-धाम प्राप्त हो जाता है।

जीवभावके उदयके अनन्तर प्राकृतिक शरीरत्रयके साथ जीवका सम्बन्ध हो जाता है। इस स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीररूपी उपाधित्रयके विषयमें कर्ममीमांसादर्शनमें तीन सूत्र मिलते हैं। यथा:—

"आद्यात् कारणाविर्भावः"

"तत्नैसर्गिकगतिः सूक्ष्महेतुः"

"तत्तीव्रवेगात्स्थूलम्"

कारण शरीर जीवके प्रथम संस्कारसे उत्पन्न है। उसकी स्वाभाविक चेष्टासे सूक्ष्म शरीर साथ ही साथ बन जाता है और सूक्ष्म शरीरके तीव्रवेगसे स्थूल शरीर बन जाता है।

अब इन सूत्रोंके भावार्थ क्रमशः नीचे प्रकाशित किये जाते हैं। गुणमयी प्रकृति अविद्यावच्छिन्न तमोगुणका अन्तिम सीमासे जब चित्सत्ताकी ओर अग्रसर होने लगती है उस समय प्रकृतिके जिस अविद्याभावपर चित्प्रतिबिम्बका प्रथम विकाश होता है उसको कारण शरीर कहते हैं। व्यष्टिसृष्टिके अर्थात् पिण्डसृष्टिके विकाशार्थ प्रकृतिराज्यमें यही आदि संस्कार है जिससे कारणशरीरका

आविर्भाव होता है। यही प्रथम सूत्रका भावार्थ है। पञ्चदशीकारने इस विषयमें लिखा है। यथा:—

अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा।
स कारणशरीरं स्यात्प्राज्ञस्तत्राभिमानवान्॥

अविद्यायुक्त प्रकृति जिसपर आत्माका प्रतिबिम्ब पड़ता है उसीको कारणशरीर कहते हैं। जीव उसी अविद्यामयी प्रकृतिके साथ अभिमान द्वारा संयुक्त होकर अपने स्वरूपको भूल जाता है और अपनेको प्रकृतिवत् मानने लगता है। यही जीवका प्रथम बन्धन प्रारम्भ होता है।

इस प्रकारसे कारणशरीरके साथ जीवका सम्बन्ध हो जानेपर जीवमें 'अहम्'का उदय होने लगता है जिससे प्रकृतिके अन्यान्य सूक्ष्मविकारके प्रति जीवकी लालसा होने लगती है। इस प्रकार स्वाभाविकरूपसे लालसा युक्त संस्कारका उदय होना ही जीवकी सूक्ष्मशरीर-प्राप्तिका कारण है। यही द्वितीय सूत्रका अर्थ है।

"वदन् वाक्"
"शृण्वन् श्रोत्रम्"

जीवमें बोलनेकी इच्छा होनेसे वागिन्द्रियकी उत्पत्ति हुई, सुननेकी इच्छा होनेसे श्रवणेन्द्रियकी उत्पत्ति हुई इत्यादि श्रुतिवचनोंके द्वारा भी उल्लिखित सिद्धान्त प्रमाणित होता है। * श्रीमद्भागवतमें विराट् पुरुषके अभिमान द्वारा जगदुत्पत्तिवर्णनप्रसङ्गमें इस सिद्धान्तका सुन्दर वर्णन किया गया है। यथा:—

विराट् पुरुषके साथ मायोपाधिका सम्बन्ध होनेसे महान् अन्तराकाशमें क्रियाशक्तिका स्फुरण होने लगता है जिससे इन्द्रियशक्ति, मनःशक्ति, बल और सूक्ष्म प्राणका विकाश होता है। तदनन्तर प्राणके स्पन्दनसे विराट् पुरुषमें क्षुधा तृष्णाका उदय होनेपर

* प्रमाण धर्मकल्पद्रुममें द्रष्टव्य है।

पिपासा और बुभुक्षाके कारण उनमें मुखकी उत्पत्ति होती है, जिससे तालु और नानारसग्राही जिह्वाका पृथक् पृथक् विकाश हो जाता है। तदनन्तर उनमें बोलनेकी इच्छा होनेसे वागिन्द्रिय और वह्निदेवताका विकाश हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रियके विकाशके साथ साथ इन्द्रियचालक तत्तद् देवताका भी विकाश हो जाता है। प्राणवायुका अत्यन्त सञ्चार तथा गन्धग्रहणकी इच्छा होनेसे घ्राणेन्द्रियका विकाश हो जाता है। अन्धकारमय महाप्रलयगर्भसे उत्थानानन्तर उनमें देखनेकी इच्छा होनेसे चक्षुरिन्द्रियका विकाश होता है और शब्दग्रहण तथा मृदु काठिन्यादि ज्ञानके लिये श्रवणेन्द्रिय और त्वगिन्द्रियका विकाश हो जाता है। तदन्तर विराट् पुरुषमें नानाकर्मकी इच्छा होनेसे पाणीन्द्रिय और तदधिष्ठात्री देवता इन्द्रका विकाश होता है और चलनेकी इच्छा होनेसे पादेन्द्रियका विकाश होकर यज्ञेश्वर विष्णु उसमें अधिष्ठान करते हैं। तदनन्तर प्रजोत्पत्ति और आनन्दकी इच्छा होनेसे उपस्थेन्द्रियका विकाश होता है जिसमें प्रजापति अधिष्ठान करते हैं। तदनन्तर मलांशके त्याग करनेकी इच्छा करनेसे पायुइन्द्रियका विकाश होता है जिसमें मित्र देवता अधिष्ठान करते हैं। तदनन्तर चिन्ता करनेकी इच्छा करनेसे मनका विकाश होता है जिसमें चन्द्रदेवता अधिष्ठान करते हैं।" यही सब मायाभिमानी विराट्पुरुषमें कारणशरीरगत लालसासंस्कारानुसार समस्त सूक्ष्म शरीरके विकाशका कारण है। ठीक इसी प्रकारसे अविद्याप्रतिबिम्बितचैतन्य जीवमें प्रकृतिके साथ अहम्भावसम्बन्ध उत्पन्नहोते ही सूक्ष्मशरीरके समस्त भोगोंके प्रति स्वतः इच्छा उत्पन्न होने लगती है जिससे उनके कारणशरीरके साथ पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चप्राण और चित्ताहंकारसहित मन बुद्धि इस प्रकारसे सत्रह पदार्थमय सूक्ष्मशरीरका सम्बन्ध हो जाता है। यही कर्ममीमांसादर्शनकथित

द्वितीय सूत्रका तात्पर्य्य है। सूक्ष्मशरीरके उपादानरूप इन सप्तदश पदार्थोंको जीव व्यापकब्रह्माण्डप्रकृतिसे अपने ऊपर आकर्षण कर लेता है। पञ्चदशीकारने इन सप्तदश उपादानोंका नाम वर्णन किया है यथाः—

"बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते॥"

पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चप्राण, मन और बुद्धि (चित्त और अहङ्कार सहित) इन सप्तदश उपादानोंसे सूक्ष्मशरीर बनता है जिसको लिङ्गशरीर कहते हैं। सूक्ष्मशरीरके विकाश होनेके बाद उन सब इन्द्रियोंके द्वारा स्थूलभोग करनेकी प्रबल इच्छा प्रकृतिमातापद जीवमें उत्पन्न होने लगती है, जिससे ब्रह्माण्डप्रकृतिके पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाशरूप पञ्च महाभूतोंके स्थूल उपादान द्वारा जीवको भोग और स्थूलशरीर प्राप्त हो जाता है। यही—

"तत्तीव्रवेगात् स्थूलम्"

इस कर्ममीमांसाके तृतीय सूत्रका तात्पर्य्य है:—

"स्यात्पञ्चीकृतभूतोत्थो देहः स्थूलोऽन्नसंज्ञकः"

पञ्चीकृत पञ्चभूतोंके द्वारा जीवके स्थूलशरीरकी उत्पत्ति होती है ऐसा शास्त्रमें भी कहा गया है। इन तीनों शरीरोंको जीवके आवरणरूप पञ्चकोष भी कहा गया है। स्थूलशरीरमें अन्नमय कोष, सूक्ष्मशरीरमें प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोष और कारणशरीरमें आनन्दमय कोषकी स्थिति वेदान्तशास्त्रमें मानी गई है। इस प्रकारसे प्रकृतिके साथ अभिमानयुक्त तद्‌भावापन्न जीवात्मा उल्लिखित तीन शरीर या पञ्चकोषके द्वारा आवृत होकर धीरे धीरे प्रकृतिके ही आश्रयसे ब्रह्मपदकी ओर तीर्थयात्रामें अग्रसर होता है। सो कैसे होता है नीचे क्रमशः बताया जाता है।

संस्कारके बिना क्रिया नहीं होती और क्रियाके बिना कोई भी जीव प्रकृतिराज्यमें अग्रसर नहीं हो सकता है। इसलिये जीवभावके विकाशके अनन्तर प्रकृतिके क्रमोन्नत मार्गमें अग्रसर होनेके लिये जीवको कर्म अपेक्षित है। वह कर्म प्रथम कैसे उत्पन्न होता है सो विवेच्य है। कर्मके विषयमें पहले ही गीताका प्रमाण दिया जा चुका है। यथाः—

"भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः"

जीवभावके विकाशके लिये जो प्राकृतिक स्पन्दन है उसे ही कर्म कहते हैं। इसीके अनुसार कर्ममीमांसादर्शनमें लिखा है:—

"प्राकृतिकस्पन्दः क्रिया" "कर्मबीजं संस्कारः"

"ग्रंथौ तत्प्रादुर्भावः पिण्डवत्" "तन्निमित्ता सृष्टिः"

प्रकृतिके स्पन्दनका नाम क्रिया है। संस्कार उसका बीज है। चिज्जड़ग्रंथिके समय उस बीजकी उत्पत्ति होती है और उसीसे सृष्टि चलती है। तमोगुणकी अन्तिम सीमासे स्वभावानुसार स्पन्दनधर्मिणी प्रकृति चित्सत्ताके प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेके लिये जिस समय रजोगुणकी ओर अग्रसर होती है उस समय चित्की और प्रकृतिका जो प्रथम परिणाम और तज्जन्य स्पन्दन है उसी स्पन्दनसे प्रथम क्रियाकी उत्पत्ति होती है। और उसी प्राथमिक क्रियाका जो संस्कार प्राकृतिकरूपसे अविद्याभावापन्न चित्सत्ताको आश्रय करता है, वही कर्मबीजरूप प्रथम संस्कार है। इसी प्राकृतिकसंस्कार और प्राकृतिकक्रियाके द्वारा जीवमें उल्लिखित तीन शरीरका आवरण विस्तृत होकर जीवको संस्कारचक्रमें प्रेरणा करता है। इसी तरह जीवभावके विस्तारके साथ ही साथ प्रकृतिराज्यमें अग्रसर होनेके लिये जीवको प्राकृतिक संस्कारकी प्राप्ति हो जाती है। और उसी प्राकृतिक स्पन्दनजनितप्राकृतिक संस्कारके क्रमको आश्रय करके जीव मनुष्ययोनिके पूर्व पर्यन्त समस्त योनियोंमें

क्रमानुसार जन्म प्राप्त करता रहता है। मनुष्ययोनिके पूर्व मनुष्येतर योनियोंका क्रम इस प्रकार है। यथा—वृहद्विष्णुपुराणमें:—

स्थावरे लक्षविंशत्यो जलजं नवलक्षकम्।
कृमिजं रुद्रलक्षञ्च पक्षिजं दशलक्षकम्॥
पश्वादीनां लक्षत्रिंशच्चतुर्लक्षञ्च वानरे।
ततोपि मानुषा जाताः कुत्सितादेर्द्विलक्षकम्॥
उत्तमाच्चोत्तमं आत्मात्मानं यो न तारयेत्।
स एव आत्मघाती स्यात्पुनर्याश्यति यातनाम्॥

जीवभावके विकाशके बाद प्रथम योनि उद्भिज्जोंकी है उसमें प्रत्येक जीवको २० लाख बार जन्म लेना पड़ता है। तदनन्तर ११ लाख बार जीवको स्वेदज अर्थात् मैलेसे उत्पन्न कृमिकीटादिकी योनिको प्राप्त करना पड़ता है। तदनन्तर १९ लाख बार जीवको अण्डज अर्थात् अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी योनिको प्राप्त करना पड़ता है। उसमेंसे ९ लाख बार जलमें उत्पन्न अण्डजयोनि और १० लाख बार स्थलमें उत्पन्न पक्षी आदि अण्डजयोनि जीवको प्राप्त होती हैं। तदनन्तर ३४ लाख बार जीवको पशुयोनिमें भ्रमण करना पड़ता है। उसमें अन्तिम ४ लाख जन्म वानरयोनिमें होता है। मतान्तरमें अन्तिम योनि त्रिगुणानुसार तीन तरहकी होती है। यथा सत्त्वगुणानुसार अन्तिम योनि गौकी, रजोगुणानुसार अन्तिम योनि सिंहकी और तमोगुणानुसार अन्तिम योनि वानरकी होती है।

इस तरहसे जीव प्रथम उद्भिज्जसे लेकर ८४ लक्ष योनिपर्यन्त क्रमोन्नत होता रहता है। उद्भिज्जादि चार प्रकारकी योनियोंमें जीवकी क्रमोन्नति होती है। जीवकी इस प्रकार भिन्न भिन्न योनि-प्राप्ति केवल स्थूलशरीरके परिवर्त्तनरूपसे ही होती है। उसके सूक्ष्म और कारण शरीर नाशको प्राप्त नहीं होते हैं। यथा छान्दोग्योपनिषद्में:—

"जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते"

सूक्ष्म और कारणशरीरयुक्त जीवात्मासे परित्यक्त होनेपर स्थूल-शरीरकी ही मृत्यु होती है, जीव नहीं मरता है। इसी प्रकार गीतामें भी है:—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

जिस प्रकार मनुष्य पुरातन जीर्ण वस्त्रको परित्याग करके नूतन वस्त्रको धारण करता है उसी प्रकार सूक्ष्म तथा कारणशरीरयुक्त जीव भी पुरातन जीर्ण स्थूलशरीरको त्याग करके नूतन स्थूल शरीरको धारण करता है। इस प्रकारसे प्रथम उद्भिज्ज योनिसे लेकर अन्तिम उद्भिज्ज योनि तक सूक्ष्म और कारण शरीरसम्बन्ध जीव एकके बाद दूसरा, इस तरहसे स्थूल उद्भिज्ज शरीरोंको प्रत्येक जन्ममें बदलता हुआ क्रमोन्नतिको प्राप्त करता है। तदनन्तर उद्भिज्जोंकी समस्त योनियोंको समाप्त करके सूक्ष्म और कारण शरीर सम्बन्ध जीव पूर्वरीतिके अनुसार स्वेदजयोनिके पृथक् पृथक् स्थूल शरीर ग्रहण करता हुआ समस्त स्वेदजयोनियोंको अतिक्रम करता है। तदनन्तर इसी प्रकारसे समस्त अण्डजयोनि और जरायुजान्तर्गत पशुयोनियोंको अतिक्रम करके जीव मनुष्ययोनिमें प्रवेश लाभ करता है। जिस प्रकार मनुष्येतर समस्त योनियोंमें कितने बार जीवको स्थूलशरीर धारण करना पड़ेगा इसका हिसाब शास्त्रमें किया गया है उस प्रकार मनुष्ययोनिमें शरीरधारणका हिसाब नहीं बन सकता है। इसका कारण यह है कि, जीव मनुष्येतर समस्त योनियोंमें ही स्वतन्त्र न रहकर प्रकृतिके अधीन रहता है। मनुष्येतर समस्त योनियोंमें बुद्धितत्त्वके सम्यग् विकाशका अभाव

रहनेसे तथा निज निज शरीरपर अहङ्कारमूलक स्वामित्वकी उत्पत्ति न होनेसे इन सब योनियोंमें जीव स्वेच्छावश कोई भी कार्य नहीं कर सकता! इसको ब्रह्माण्डप्रकृतिगत सहजकर्म्मजनित संस्कारके अनुसार ही प्रवाहिनीपतित काष्ठखण्डकी नाई सर्वथा चलना पड़ता है। यह बात पहले ही कही गई है कि, ब्रह्माण्डप्रकृतिका प्रवाह तमोगुणसे सत्त्वगुणकी ओर क्रमोन्नतिको प्राप्त करता है। अतः उसी प्रवाहमें पतित अहङ्कारहीन जीव मनुष्येतर समस्त-योनियोंमें क्रमशः उन्नतिको ही प्राप्त करेगा और मनुष्ययोनिप्राप्ति-पर्य्यन्त कभी पतन अथवा भटकनेकी सम्भावना नहीं उत्पन्न होगी, इसमें क्या सन्देह है? यही कारण है जिससे मनुष्येतर समस्त-योनियोंका हिसाब बन सकता है,क्योंकि महर्षि लोग इन सब योनि-योंमें जीवकी क्रमोन्नतिके क्रमपर संयम करके भिन्न भिन्न योनियोंकी संख्याको गिनकर बता सकते हैं, परन्तु मनुष्ययोनिमें इस प्रकारहिसाब नहीं हो सकता है, क्योंकि मनुष्ययोनिमें आते ही जीवमें बुद्धितत्त्वका विशेष विकाश हो जानेसे स्वाधीन और इन्द्रियोंपर जीवका स्वामि-स्वभाव उत्पन्न हो जाता है। इसीलिये जीव मनुष्ययोनिमें आकर स्वेच्छासे इन्द्रियसेवादि द्वारा अपना संस्कार स्वयं ही उत्पन्न करने लगता है और ब्रह्माण्डप्रकृतिके क्रमोर्द्ध्वगतिशील सहज कर्म्मजनित संस्कारधाराको छोड़ देता है। अतः इस धाराको छोड़ देनेसे क्रमोन्नतिके हिसाबसे जीव पृथक् हो जाता है और अपने उत्पन्न किये हुए अच्छे बुरे संस्कारोंके अनुसार कभी उन्नत कभी अवनत होता हुआ अनेक योनियोंको प्राप्त करता रहता है। इसलिये मनुष्ययोनिमें जीवको कितनी बार जन्म लेना पड़ेगा, इसका ठीक हिसाब नहीं लग सकता, मनुष्यके नीचेकी समस्त योनियोंमें जीव व्यापक प्रकृतिके क्रमोन्नतिमूलक स्पन्दनके द्वारा उत्पन्न संस्कारों-को आश्रय करके ऊपर चलता है। इसलिये उन योनियोंमें जीवोंकी

चेष्टा वैसी वैसी होती है जैसे जैसे संस्कार प्रकृतिके भिन्न भिन्न विभागमें जीवको आश्रय करें, उससे अन्यथा कोई दूसरा संस्कार नहीं हो सकता है। और यही कारण है कि, मनुष्येतर योनियोंमें प्रत्येक विभागगत जीवोंकी चेष्टा प्रायः एकसी ही देखनेमें आती है। किसी सिंहको घास खाते हुए कभी किसीने नहीं देखा होगा, वे सभी अपनी प्रकृतिके अनुसार मांस ही भक्षण करेंगे। इसी प्रकार गौके लिये भी मांस खाना कदापि सम्भव नहीं होगा। वे सभी स्वकीय प्रकृतिके अनुसार घास ही खायँगी। इसी प्रकारसे पृथक् पृथक् योनियोंमें पृथक् पृथक् प्राकृतिक स्पन्दनके अनुसार पृथक् पृथक् ब्रह्माण्डप्रकृतिगत संस्कारको आश्रय करके तदनुसार क्रियाशील होकर जीव उद्भिज्जादि समस्त योनियोंको प्राप्त करता हुआ क्रमोन्नत होता है। प्रत्येक योनिमें पृथक् पृथक् संस्कार ब्रह्माण्डप्रकृतिके द्वारा जीवको प्राप्त होनेसे और उन सब संस्कारोंके साथ अपना स्वामित्व सम्बन्ध न होनेसे मनुष्येतर जीवोंमें पूर्वजन्मका संस्कार परजन्मकी क्रमगतिका कारण नहीं बनता है। पूर्वजन्मकी समाप्तिके समय पूर्वजन्मप्रद प्राकृतिक संस्कार ब्रह्माण्डप्रकृतिको आश्रय कर लेता है और जीव ब्रह्माण्डप्रकृतिचालित होकर आगेका जन्म प्राप्त करके ब्रह्माण्डप्रकृतिके जिस स्तरमें उसका जन्म हुआ उस स्तरके प्राकृतिक स्पन्दनजनित प्राकृतिक संस्कारको प्राप्त होकर तदनुसार पूर्वजन्मसे भिन्नरूप चेष्टा करेगा। यथा—यदि किसी जीवका जन्म श्वानका हो तो उस जन्मगत प्राकृतिक संस्कारके अनुसार वह मांस खायगा और निद्रा भय मैथुनादि भी उसी व्यापकप्रतिसम्बन्धीय संस्कारानुसार करेगा। परन्तु यदि उसी जीवका दूसरा जन्म घोड़ेका होगा, तो दूसरा जन्म प्राप्त करते ही मांस खाना भूल जायगा, घास खाने लग जायगा और निद्रा, भय, मैथुन भी उसी अश्वजन्मगत प्राकृतिक संस्कारा-

नुसार करेगा। इसमें यह नहीं होगा कि, पूर्वजन्म मांस खानेवाले कुत्तेका था, इसलिये उसी संस्कारसे आगे जो जन्म होगा, उसमें भी उसे मांस खाना चाहिये। अतः यह सिद्धान्त होता है कि, मनुष्येतर जीवोंकी गति एकमात्र प्राकृतिक संस्कारके बलसे ही होती है, उसमें प्राक्तन प्रारब्धकर्म आदिका कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता है। परन्तु मनुष्ययोनिमें इस प्रकार नहीं हो सकता है, क्योंकि मनुष्य स्वाधीन, स्वकीय शरीर और इन्द्रियोंपर स्वामित्वभाव युक्त और स्वदेहपर अभिमानयुक्त होनेके कारण ब्रह्माण्ड-प्रकृतिके संस्कारको छोड़कर अपनी कर्मसन्तानताके कारण अपना संस्कार स्वतन्त्र करता जाता है, जिससे मनुष्यको प्राक्तन कर्मानुसार आगेके जन्म प्राप्त होते हैं और उन्नत या अवनत स्वकीय प्रारब्धानुसार उन्नत या अवनत योनियाँ मिलती हैं। यही कारण है कि, मनुष्येतर जीवोंमें एकमात्र प्राकृतिक संस्कार (Intuition) होनेपर भी मनुष्ययोनिमें जीव प्रारब्ध, सञ्चित और क्रियमाण इन तीन प्रकारके स्वोपार्जित संस्कारोंके द्वारा भिन्न भिन्न गति प्राप्त करता रहता है। परन्तु मनुष्येतर योनियोंमें ब्रह्माण्डप्रकृतिके अधीन रहनेके कारण तथा स्वदेह और इन्द्रियोंपर स्वामित्व न होनेके कारण उन योनिगत समस्त जीवोंमें आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि समस्त क्रिया नियमित होती है। उसमें प्राकृतिक नियमविरुद्धता तथा अप्राकृतिक बलात्कारके साथ कोई भी अनुष्ठान नहीं होता है। यही कारण है कि, पशु पक्षी आदि जीवोंमें अनियमित मैथुनादि कदापि दृष्टिगोचर नहीं होते। उनमें प्राकृतिक नियमानुसार सृष्टिकार्यके लिये ऋतुकालके उपस्थित होनेसे तभी मैथुनेच्छा उत्पन्न होती है। अन्यथा स्त्री-पुरुष सदा एक साथ रहनेपर भी किसी समय परस्पर काम-सम्बन्धकी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है। परन्तु मनुष्योंमें बुद्धिविकाश, स्वशरीर और

इन्द्रियोंपर आत्माभिमानके कारण मनुष्य इस विराट् प्रकृतिके मधुर नियमको बलात्कारके साथ तोड़ देता है और अनियमित यथेच्छ इन्द्रिय सेवापरायण होकर प्रवाहरूप प्रकृतिके क्रमोन्नतिशील प्रवाहसे पृथक् हो जाता है। यही कारण है कि, पश्वादि जीवोंमें नियमित आहार निद्रा भय मैथुनादि क्रिया होनेपर भी मनुष्ययोनिमें प्रायःजीव अनियमित आहार निद्रा भय मैथुनादि आचरण करता है। प्रवाहरूप प्रकृतिकी धारा तमोगुणसे सत्त्वगुणकी ओर क्रमोर्द्ध्वगतिशील होनेसे मनुष्येतर जीवसमूह उस धाराको आश्रय करके जितनी ऊर्द्ध्वगतिको प्राप्त होते जाते हैं उतना ही उनमें पञ्चकोषोंका क्रमविकाश और तदनुसार क्रियाशक्तिकी विशेषता तथा मानसिक और बुद्धिसम्बन्धीय विविध वृत्तियोंकी स्फूर्त्ति होती जाती है। प्रत्येक जीवदशाका सम्बन्ध तीनों शरीर या पञ्चकोषोंके साथ होनेके कारण निम्नतम कोटिके उद्भिज्जसे लेकर उच्चतम कोटिके समस्त जीवपर्य्यन्त पंचकोषोंकी स्थिति रहती है। केवल निम्न कोटिके जीवोंमें सब कोषोंका विकाश नहीं रहता है। वह विकाश प्रकृतिराज्यमें जीवकी उन्नतिके साथ साथ होता जाता है। तदनुसार उद्भिज्जमें केवल अन्नमय कोषका विकाश, स्वेदजमें अन्नमय और प्राणमय दोनों कोषोंका विकाश, अण्डजमें अन्नमय, प्राणमय और मनोमय तीनों कोषोंका विकाश तथा जरायुज पशुओंमें अन्नमय, प्राणमय मनोमय और विज्ञानमय इन चारों कोषोंका विकाश हो जाता है। उद्भिद् जीवोंमें केवल अन्नमय कोषके विकाशके कारण ही उनमें स्थावरत्व बना रहता है और पृथ्वी आदिकी सहायतासे उनके प्राणकी रक्षा होती है। स्वेदजमें अन्नमय और प्राणमय कोषके विकाशसे ही उनमें बड़ी बड़ी प्राणशक्तिका विकाश देखनेमें आता है। यहाँतक कि, स्वेदज जीवोंकी सहायतासे विराट्के प्राणकी स्वास्थ्य रक्षा होना या न होनेका कार्य सम्पादित

होता है। अन्नमय प्राणमय कोषोंके साथ मनोमय कोषके विकाशके द्वारा अण्डज जीवोंमें अनेक प्रकारकी मनोवृत्ति तथा बुद्धि वृत्तियोंकी स्फूर्त्ति होती है। यह मनोवृत्तिकी स्फूर्तिका ही शुभफल है कि कपोत, चक्रवाक आदि पक्षियोंमें अपूर्व मनोरम नरलोकदुर्लभ दाम्पत्य प्रेमका विकाश देखनेमें आता है। समस्त पक्षियोंके हृदयमें मधुरिमामय वात्सल्य रसका अपूर्व विकाश जिस विकाशके कारण भीषण वात्या, भयंकर अशनिपात तथा प्रबल दावदाहके प्रति भी उपेक्षा करके सुकोमल पक्षके द्वारा सन्तानको आवृत कर यमराजका भी सामना समस्त चिड़ियाँ कर सकती हैं और स्वयं क्षुधार्त्त रहनेपर भी शावकको अन्नदान करके हृदयमें अतीव आनन्दको प्राप्त कर सकती हैं—यह अपूर्व विकाश अण्डज जातिमें मनोमय कोषकी स्फूर्तिका ही मधुर परिणामरूप है। इसी प्रकार मनोमय तथा विज्ञानमयकोषविकाशके फलरूपसे जरायुज पशुओंमें भी विविध प्रकार अपूर्व मनोवृत्ति तथा बुद्धिवृत्तिका परिचय देखनेमें आता है। गौ माता निज सन्तानको बुभुक्षु रखकर भी गृहस्वामीके लिये अमृतधाराका अजस्रवर्षण करनेमें अणुमात्र कुण्ठित नहीं होती हैं। युवक सिंह पिता-माताके द्वारा संगृहीत मृगमांसको भक्षण नहीं करता, परन्तु अपनी वीरतासे निहत पशुके मांसभक्षण द्वारा ही जठरानल परितृप्त करता है, बलवान् पशुके मिलनेपर दुर्बल पशुपर कभी आक्रमण नहीं करता है, अन्नकणापरितृप्त श्वान प्रभुके लिये आनन्दके साथ आत्मबलिदान करनेमें अणुमात्र भी संकोच नहीं करता है और निशिदिन प्रभुकी सम्पत्तिकी रक्षा करके कृतज्ञता और अलौकिक प्रभुभक्तिका परिचय प्रदान करता है, वशम्वद, प्रभुभक्तिपरायण, वीर अश्व प्रभुके लिये कालानलसदृश संग्राममें आत्मोत्सर्ग करनेमें कुण्ठित नहीं होता है, मृत प्रभुके विरहमें अन्नत्याग करके कंकालसार हो

प्राणविसर्जन करता है तथा अनन्त विपत्तिसमुद्रके बीचमेंसे प्रभुका उद्धार करनेमें समर्थ हो सकता है, हिन्दूसूर्य महाराणा प्रतापके परमस्नेहभाजन चेटकका अद्भुत आत्मत्याग और प्रभुरक्षा, उड़ीसा राजधानिस्थ महा हस्तीका राजध्वजारक्षणके लिये असंख्य यवन सेनाओंके साथ घोर युद्ध और अलौकिक आत्म-बलिदान ये सभी जरायुज पशुयोनिमें प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोषोंके मधुर विकाशका अपूर्व परिणाम है।

इस प्रकारसे धीरे धीरे समस्त मनुष्येतर योनियोंको अतिक्रमण करके जीव क्रमशः मनुष्ययोनिमें पदार्पण करता है। मनुष्ययोनिमें आनेसे पूर्वोल्लिखित चार कोषोंके अतिरिक्त आनन्दमय कोषका भी विकाश हो जाता है और तदनुसार जीवमें बुद्धिवृत्ति और अहङ्कारका विकाश होकर निज शरीर तथा इन्द्रियोंपर स्वामित्व सम्बन्धका उदय हो जाता है। अर्थात् मनुष्य योनिमें जीव यह समझने लग जाता है कि,—"यह मेरा शरीर है, ये मेरी इन्द्रियाँ हैं, मैं इनको विषयमें लगाकर इन इन प्रकारके विषयसुखोंको प्राप्त कर सकता हूँ, मुझे इन इन इन्द्रियोंसे इन इन प्रकारके सुख मिलते हैं जो मुझे स्मरण हैं" इत्यादि इत्यादि। इस प्रकारसे मनुष्ययोनिमें शरीर और इन्द्रियोंपर अहन्ता या अभिमानका उदय होनेसे यह बात स्वतःसिद्ध है कि, मनुष्योंमें इन्द्रियलालसा बढ़ जाती हो जायगी, जिससे पशुयोनि तक जो प्राकृतिक प्रेरणाके अनुसार आहार, निद्रा, मैथुन नियमित था, वह नियम भङ्ग होकर प्रकृतिसे विरुद्ध अनियमित, यथेच्छ तथा अत्यधिक मैथुनादि बढ़ जायगा। यही कारण है कि, जिससे उद्भिज्ज योनिसे लेकर व्यापक प्रकृतिकी क्रमोर्द्धगतिशील धाराको आश्रय करके पशुयोनिके अन्त तक जीवकी जो अव्याहत गति बनी रही थी वह गति मनुष्ययोनिमें आकर रुक जाती है और मनुष्य व्यापक प्रकृतिकी

क्रमोन्नतगतिशील धाराको छोड़कर पुनः अधोगतिकी ओर जाने लगता है। मनुष्येतर योनियोंमें जीवोंका कर्मसंस्कारसम्बन्ध व्यापक प्रकृतिके साथ साक्षात्‌रूपसे होनेके कारण जैसा कि, पहले कहा गया है, उन जीवोंका पूर्वजन्मकृत संस्कार भविष्यत्‌ जीवनका कारण नहीं बनता है। इसी रीतिके अनुसार पशुयोनिको समाप्त करके जीव जब प्रथम मनुष्ययोनिमें पदार्पण करता है, उस समय उसके अन्तिम पशुयोनिका संस्कार प्रथम मनुष्ययोनिमें प्राप्त नहीं होता है। अन्तिम पशुयोनिका संस्कार चाहे वह योनि गौकी हो या सिंहकी या वानरकी सभी उसी व्यापकसम्बन्धयुक्त पशुप्रकृतिमें विलीन हो जाता है और जीव प्रथम मनुष्ययोनिमें आकर उसी प्रथम मनुष्ययोनिके लिये प्रह्माण्डप्रकृतिसे उसी प्रथम योनिके संस्कार प्राप्त करता है। अतः यह बात विज्ञानके द्वारा स्वतःसिद्ध है कि, प्रथम मनुष्यका संस्कार प्रकृतिके उस स्तरगत समष्टि संस्कार ही है। अर्थात्‌ प्रथम मनुष्य व्यापक प्रकृतिकी धारामें ही है। परन्तु जब मनुष्ययोनिमें स्वयं कर्तृत्वशक्तिका उदय होनेसे धीरे धीरे व्यष्टिसत्तापर जीवका जितना अभिमान बढ़ता जाता है उतना ही व्यापक धारासे उसका सम्बन्ध टूटता जाता है और कुछ योनियोंके बाद ही वह जीव पूरा व्यष्टिसंस्कारधारी जीव हो बन जाता है और समष्टिसे सम्बन्ध सम्पूर्णतया तिरोहित हो जाता है। जीवकी इस समष्टि प्रकृतिगत धाराको अव्याहत रखकर उद्भिज्जसे लेकर ब्रह्मपर्यन्त ब्रह्माण्ड प्रकृतिके व्यापक प्रवाहमें जीवको डाल देनेके लिये जो धर्मानुकूल और अधर्मानुकूल विधियां हैं उन्हींका नाम धर्माधर्म है। जबतक जीव मनुष्येतर योनियोंमें था, तबतक प्रकृतिमाताके गोदमें सोये रहनेसे जीवकी उन्नतिके लिये प्रकृतिमाता स्वयं ही जिम्मेवार थी और जीव उनकी उन्नतिशील धारामें प्रवाहपतितरूपसे क्रमोन्नत होता हुआ पशुयोनि-

के अन्ततक आ चुका है। अतः मनुष्येतर योनियोंमें स्वतः वन्यतिका मौका मिलनेके कारण तथा उन योनियोंमें बुद्धिविकासकी अल्पता रहनेके कारण मनुष्येतर योनियोंमें उपर्युक्त शास्त्रविधिके अनुसार उन्नतिकी कोई भी आवश्यकता नहीं रहती है और मनुष्य होनेपर भी अत्यन्त निकृष्ट पशुप्राय 'जङ्गली' मनुष्योंमें भी व्यापकप्रकृतिसे अधिक सम्बन्ध तथा बुद्धिविकासकी अल्पताके कारण शास्त्र-विधिका प्रकाश नहीं रहता है। ऐसे जीव जब प्रकृतिकी छायासे कुछ उन्नत होकर बुद्धिपूर्वक कार्य करनेका कुछ कुछ अधिकार प्राप्त करते हैं तभी उनमें स्वाधिकारानुसार शास्त्रविधिका प्रचार होता है जिससे उनकी उद्दामगति नियमित होकर उन्नतिकी ओर अग्रसर हो सकती है। अतः यह सिद्धान्त प्रतिपन्न हुआ कि, मनुष्येतर योनियोंसे मनुष्ययोनिमें आनेपर जीवकी प्रकृतिमें दो विशेषताएं उत्पन्न होती हैं। एक बुद्धिविकासके कारण शास्त्राधिकारको समझकर निज उन्नतपन्थाको ढूँढ़ लेनेकी शक्ति और दूसरी निजदेह और इन्द्रियोंपर स्वामित्व उत्पन्न होनेके कारण यथेच्छ इन्द्रियसेवा द्वारा अधोगतिमें जानेकी भी शक्ति। अतः इस समय मनुष्यजातिके लिये ऐसा ही करना युक्तियुक्त होगा जिससे उद्दाम इन्द्रियसेवा-प्रवृत्ति नियमित होकर अधोगतिकी सम्भावना रुक जाय और बुद्धि-विकासके तारतम्यानुसार शास्त्रानुशासनका प्रयोग होकर उन्नति प्राप्त करनेकी चेष्टा बनी रहे। ये दोनों ही काम करना शास्त्रका लक्ष्य है। शास्त्रविधिके अनुसार चलनेसे समस्त मनुष्यजातियाँ क्रमशः इन्द्रियवृत्तिको वशीभूत करके उन्नतिकी ओर अग्रसर हो सकती हैं। ये सब शास्त्रविधियाँ जीवकी प्रकृतिराज्यमें क्रमोन्नतिके अनुसार क्रमोन्नत होती हैं, तदनुसार मनुष्य जगत्‌में जीवोंको उन्नतिके लिये प्राकृतिक प्रेरणाके अनुकूल अनेक धर्ममत उत्पन्न होते हैं। जिस जातिकी मनुष्यसम्प्रदायके लिये जो धर्ममत देशकाल-

व्यापकभावको प्राप्त होता जाता है, जिससे उन जातियोंमें भी जीव क्रमोन्नतिको प्राप्त होकर भगवद्भावके आश्रयसे आर्यजातिमें जन्मग्रहणके अधिकारी बन सकते हैं। आर्यजातिमें आनेपर सत्त्वगुणके प्रकाशके कारण स्थूल लक्ष्य निरस्त होकर जीवका लक्ष्य आत्मोन्नति और सुखका लक्ष्य आत्मानन्द प्राप्त करना हो जाता है, जिससे आर्यजातिमें उत्पन्न जीव आर्यशास्त्रोक्त साधिकारानुसार पूर्णरूपसे पालन करता हुआ शीघ्र व्यापक प्रकृतिकी धाराकी ओर अग्रसर हो सकता है। इस समय जीवकी पूर्वोल्लिखित दो शक्तियोंको नियमित करनेके लिये दो शास्त्रविधियाँ सहायता करती हैं एक वर्ण और दूसरा आश्रम। अनार्ययोनिमें रजोगुण और तमोगुणका विकाश और सत्त्वगुणका प्रायः अभाव होनेके कारण त्रिगुणपरिणामभूत वर्ण और आश्रमधर्मके स्पष्ट विकाशका अधिकार जो नहीं प्राप्त हुआ था, वह अवस्था दूर होकर अब आर्ययोनिमें त्रिगुणके सम्यक् विकाशके कारण चार वर्ण और चार आश्रमके पूर्ण विकाशका अवसर आर्यप्रकृतिराज्यमें प्राप्त हो जाता है, जिससे आर्यजातिगत जीव बहुत ही शीघ्रताके साथ आत्मोन्नति करता हुआ व्यापक प्रकृतिकी धाराकी ओर अग्रसर होने लगता है। शास्त्रमें वर्णधर्मको प्रवृत्तिरोधक और आश्रमधर्मको निवृत्तिपोषक कहा गया है, इसलिये वर्णधर्मके यथार्थ प्रतिपालन द्वारा मनुष्ययोनिमें यथेच्छ इन्द्रियसेवाको परिणामरूप जो अधोगतिकी सम्भावना है वह रुक जाती है और आश्रमधर्मके यथाशास्त्र प्रतिपालन द्वारा मनुष्ययोनिमें जो बुद्धिसञ्चालनपूर्वक महाकाश निवृत्तिकी ओर अग्रसर होनेकी शक्ति है वह शक्ति परिपुष्ट होती है। शूद्रवर्णमें तामसिक प्रकृति होनेके कारण स्वभावतः उद्दाम इन्द्रियप्रवृत्ति त्रिवर्णोंमें आत्मसमर्पणपूर्वक यथारीति सेवा द्वारा धीरे धीरे अवरोधको प्राप्त हो जाती है। वैश्य वर्णमें रजस्तमो-

व्यापकप्रकृतिकी क्रमोन्नतिशील धारामें पतित मनुष्येतर जीवोंमें क्रियाशक्ति जिस प्रकार व्यापकप्रकृतिके स्वाभाविक स्पन्दनजनित संस्कारसे उत्पन्न होती है, उसी प्रकार व्यापकप्रकृतिकी विराट्धारासे च्युत मनुष्ययोनिमें भी व्यष्टिप्रकृतिके साथ समस्त्यनुस्युत व्यापकप्रकृतिकी धारासे स्वतः कर्म करनेकी प्रेरणा प्राप्त हुआ करती है। केवल भेद इतना ही है, कि, मनुष्येतर जीवोंमें देहाभिमानके अभावके कारण वे उस धारागत कर्मशक्तिके द्वारा सञ्चालित होते हैं और इसलिये उनमें स्वयं कर्तृत्वशक्ति तथा पापपुण्यकी जिम्मेवारी नहीं रहती है, परन्तु मनुष्ययोनिमें देहाभिमान और बुद्धिवृत्तिका विकाश हो जानेसे मनुष्य उस समष्टिधारागत कर्मप्रेरणाको व्यष्टिसत्ताके साथ सम्मिलित (Identified) करके अहंकारत अहंभावके साथ समस्त कर्मोंका आचरण करता है और तदनुसार मनुष्ययोनिमें नवीन नवीन संस्कारप्राप्ति और पापपुण्यकी जिम्मेवारी हो जाती है। यही कारण है कि, मनुष्येतरयोनियोंमें कर्म करनेमें स्वतन्त्रता न रहनेपर भी मनुष्ययोनिमें प्रकृतिराज्यमें उच्छ्वासत शक्तिके अनुसार नवीन नवीन कर्म करनेकी स्वतन्त्रता रहती है। अब इस स्वतन्त्रताको बुद्धिशक्ति द्वारा अच्छे उपयोगमें लाकर क्रमशः उन्नतोन्नत योनियोंको प्राप्त करते हुए मुक्त हो जाना अथवा इस स्वतन्त्रताको उद्दाम इन्द्रियवृत्तिके यथेच्छ प्रवाहमें डालकर क्रमशः अवनत होते हुए मूढ़योनियोंको पुनः प्राप्त करना मनुष्यके अपने हाथमें है। यह बात पहले ही कही गई है कि, मनुष्येतर योनियोंमें कर्मस्वातन्त्र्य न रहनेसे उन योनियोंमें सभी जीव एकमात्र प्राकृतिक संस्कार द्वारा क्रमोन्नत होते हैं और तदनुसार मनुष्येतर योनिगत प्रत्येक श्रेणीके जीवकी चेष्टा प्रायः एकहीसी होती है। परन्तु मनुष्ययोनिमें स्वयं कर्तृत्वशक्ति रहनेसे तथा कर्मस्वातन्त्र्यके कारण प्रत्येक मनुष्य वासनाके अनु-

ार पृथक् पृथक् कर्म करने लगता है। इसलिये मनुष्ययोनिमें र्मकी इतनी विशालता है और इसमें किसीके साथ किसीके र्मका सम्पूर्ण मेल नहीं रहता है। कर्मस्वातन्त्र्यवश मनुष्य जितने ाकारके कर्म करते हैं उन सबोंको तीन भागोंमें विभक्त किया गया , यथा—सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्ध। जन्मजन्मान्तरसे नुष्य जिन कर्मोंको करता आया है, जिनके भोगका समय अभी क नहीं आया है, इसलिये जो कर्मसमूह संस्काररूपसे अभीतक चिदाकाश अर्थात् चित्तके गम्भीर देशमें सञ्चित है उसको सञ्चित कर्म कहते हैं। मनुष्य प्रत्येक जन्ममें जितने कर्म करता है उन सबका भोग तत्तद् जन्ममें नहीं हो सकता है, क्योंकि, भोग केवल प्रबलतम कर्मोंका ही होता है, अन्यान्य कर्मोंका भोगकाल धीरे धीरे जन्मजन्मान्तरमें आता है, इसलिये प्रथम भोग होने योग्य प्रबलतम कर्मके अतिरिक्त और जितने कर्म भविष्यत्में भोगके लिये चिदा-काशमें रह जाते हैं उनका नाम सञ्चित कर्म है। क्रियमाण कर्म उसे कहते हैं जो हरेक जन्ममें नवीन नवीन वासनाओंके अनुसार नवीन नवीन रूपसे मनुष्य करता है और इन्हीं सञ्चित तथा क्रिय-माण कर्मोंमेंसे प्रबलतम होनेके कारण सबसे पहले भोग्य जितने कर्म चित्ताकाश अर्थात् चित्तके ऊपरके देशको आश्रय करके भोगायतनरूप स्थूल शरीरको उत्पन्न करते हैं उनका नाम प्रारब्ध कर्म है। मनुष्य प्रारब्धकर्मानुसार जन्मग्रहण करके कर्मस्वात-न्त्र्यके कारण प्रारब्धभोगमुखेन स्वस्ववासनानुसार अनेक प्रकारके क्रियमाण कर्म करता है जिनमेंसे प्रथम भोग्य प्रबलतम कर्म मृत्युके समय चित्ताकाशको आश्रय करके प्रारब्धरूपसे उन्नत या अवनत जन्म मनुष्यको प्रदान करता है और शेष कर्मसमूह जो प्रबलतम न होनेसे प्रारब्ध बनने लायक नहीं हैं वे सब सञ्चितकर्मरूपसे चिदाकाशको आश्रय करके कर्माशयमें लवलीन रहते हैं और

प्रबलतम कर्मोंके भोग हो जानेपर अवसर पाकर आगेके अन्य किसी जन्ममें प्रारब्ध बनकर भोगार्थ अन्य स्थूलशरीरको प्रदान करते हैं। इस प्रकारसे उन्नत-अवनत वासनाओंके अनुसार उन्नत-अवनत कर्मसंस्कारोंको प्राप्त करता हुआ उन्नत-अवनत योनियोंमें मनुष्य घटीयन्त्रवत् घूमता रहता है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है:—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

सात्त्विक कर्मके द्वारा मनुष्य ऊर्ध्व स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त करता है, राजसिक कर्मोंके द्वारा मनुष्यलोक और तामसिक कर्मोंके द्वारा पश्वादि अधो योनियोंको प्राप्त करता है। मनुसंहितामें लिखा है:—

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः।
तिर्य्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषां त्रिविधा गतिः॥

सत्त्वगुणी जीव देवत्वको, रजोगुणी जीव मनुष्यत्वको और तमोगुणी जीव तिर्यक्‌योनिको प्राप्त करता है। यही कर्मानुसार जीवोंकी त्रिविध गति है। छान्दोग्योपनिषद्‌में लिखा है:—

"तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा"

पुण्यमयकर्मानुष्ठानकारी मनुष्य पुण्यमय योनि अथवा ब्राह्मणयोनि या क्षत्रिययोनि या वैश्ययोनिको प्राप्त करता है, और पापाचरणकारी मनुष्य गर्हित योनिको प्राप्त करता है यथा—कुक्कुरयोनि, शूकरयोनि या चाण्डालयोनि इत्यादि। हिन्दुशास्त्रमें

मनुष्यादि उन्नत योनियोंसे इस प्रकार वेदकथित मूढ़योनि प्राप्तिके विषयमें अनेक इतिहास भी मिलते हैं, यथा—भरतमुनिकी मृगयोनिप्राप्ति और नहुषकी सर्पयोनिप्राप्ति आदि। इसके सिवाय पुण्य कर्मके फलसे स्वर्गादि लोकप्राप्तिकी तरह पाप कर्मके फलसे नरकादि प्राप्ति भी मनुष्योंको होती है। यथा श्रुतिमें:—

> अनन्धा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
> ताँस्ते प्रेत्यभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

आत्महननकारी पापिगण घोर अन्धकारपूर्ण अनन्धा नामक दुःखमय नरकमें गमन करते हैं। इसी प्रकार गीतामें भी—

> अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
> प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

अनन्तअज्ञानसुलभविषयविभ्रान्त, मोहपाशबद्ध, कामभोगासक्त पापिगण अशुचि नामक नरकमें पतित होते हैं। और भी, मनुसंहितामें:—

> तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः।
> संप्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु॥
> तामिस्रादिषु चोग्रेषु नरकेषु विवर्तनम्।
> असिपत्रवनादीनि बन्धनच्छेदनानि च॥

मूढ़गण पापकर्मोंके फलसे संसारमें अनेक नीच योनियोंको प्राप्त करके अनन्त दुःख भोग करते हैं और तामिस्र, असिपत्रवन आदि विविध नरकोंमें भी पतित होकर बहुत दुःख पाते हैं। यही संचित प्रारब्ध और क्रियमाण संस्कारानुसार आवागमन चक्रमें जीवका परिभ्रमण है। शास्त्रविधिके अनुसार स्वातन्त्र्ययुक्त बुद्धिको सञ्चालित करके सत्कर्मानुष्ठान द्वारा उपर्युक्त तीनों प्रकारके संस्कारोंको परिशुद्ध करनेसे मनुष्य धीरे धीरे इस दुःखमय आवागमनचक्रसे निस्तार पा सकता है। मनुष्यका पूर्वार्जित संस्कार

जिस श्रेणीका होता है, स्थूल अङ्गप्रत्यङ्ग, मन और बुद्धिकी अवस्था जाति, आयु और सांसारिक भोगप्राप्ति भी इसी प्रकारकी होती है। इसीलिये सुश्रुतमें लिखा है:--

"अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते"

प्राक्तन कर्मार्जित स्वभावके अनुसार ही स्थूलशरीरका अङ्ग-प्रत्यङ्ग निर्माण होता है। जाति, आयु आदिके विषयमें योगदर्शनमें लिखा है:--

"सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः"

प्रारब्धकर्मके मूलमें रहनेसे उसीके ही परिणामरूप जाति, आयु और भोग जीवको मिलते हैं। जिस श्रेणीका प्रारब्धकर्म होता है उसी तरहकी जातिमें जीवका जन्म होता है, उसकी ही आयु जीवको प्राप्त होती है जितनीमें प्रारब्धभोग हो और भोग भी प्रारब्धके अनुसार ही अच्छा बुरा मिलता है। इन सबोंका विस्तृत वर्णन धर्मकल्पद्रुमके कर्मकाण्ड नामक अध्यायमें किया गया है। अतः यह बात निश्चय है कि, यदि मनुष्य शास्त्रसम्मत वर्णाश्रमधर्मविधिके अनुसार आचरण करके अपने संस्कारोंको उन्नत करता जायगा तो क्रमशः उसको उन्नत कोटिका स्थूलशरीरलाभ, उन्नत जातिलाभ, मन और बुद्धिकी उन्नत स्थिति, सात्त्विक भोगप्राप्ति और आध्यात्मिक उन्नति लाभ होगी। उद्दाम इन्द्रियप्रवृत्तिको दमन करके शास्त्रानुकूल आचरण द्वारा अपने संस्कारोंको परिशुद्ध करता हुआ जीव इसी प्रकारसे मुक्तिकी ओर अग्रसर होता है। मनुष्यके इस शास्त्रानुकूल आचरणको दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। एक भावशुद्धिपूर्वक विषयसेवा तथा अन्यान्य अनुष्ठान द्वारा प्रारब्धजनित विषयभोगको निवृत्त करके उत्तम कोटिका क्रियमाण संस्कार क्रमशः उपार्जन करना और दूसरा अलौकिक दैवशक्तिकी सहायतासे मन्दप्रारब्धको भी दबाकर पुरुषार्थ द्वारा उन्नत होना। यह बात पहले ही कही

गई है कि, भावशुद्धि द्वारा घोर असत् कर्म भी सत्कर्मरूपमें परिणत हो जाता है। अतः यदि साधक सात्त्विकभावको मूलमें रखकर प्रारब्धजनित विषयोंका भोग तथा क्रियमाण कर्मोका आचरण करेगा तो, भावशुद्धिके फलसे शीघ्र ही उसकी चित्तवृत्ति उन्नत भावको धारण करेगी जिससे विषयादिस्पृहा शांत होकर उसमें उन्नत क्रियमाण संस्कारोंका उदय हो जायगा और इस प्रकार उन्नत क्रियमाण संस्कारयुक्त साधकोंका प्रारब्धसंस्कार भी स्वतः ही उन्नत होनेके कारण उनको उत्तरोत्तर उन्नत स्थूलशरीरयुक्त योनि, उन्नत आन्तरिक अवस्था और आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त होती रहेगी, जिससे वे शीघ्र ही प्रकृतिके आयुन्नत राज्यमें अधिष्ठित होकर मुक्तिपथके पथिक हो जायेंगे। संस्कारोंको उन्नत करनेका दूसरा उपाय अलौकिक योगपुरुषार्थ है। योगशास्त्र अलौकिक पुरुषार्थवादी है क्योंकि योगशक्ति अलौकिक है, इसलिये योगीको विवश होकर प्रारब्ध भोगने तथा भावशुद्धि द्वारा उनके वेगको धीरे धीरे घटानेकी कोई भी आवश्यकता नहीं रहती है। वह योगशक्तिकी सहायतासे बलपूर्वक मन्द प्राक्तन संस्कारको दबाकर अच्छे आगामी संस्कारको उत्पन्न कर सकता है और इसलिये योगशास्त्रमें प्रारब्ध, सञ्चित, क्रियमाण ये तीन संस्कार स्वीकृत न होकर केवल दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय ये दो ही संस्कार स्वीकृत हुए हैं। यथा योगदर्शनमें:—

"क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः"

अविद्यास्मितादि पञ्चक्लेश संस्कारका कारण है, वह दृष्टजन्म अथवा अदृष्ट जन्ममें भोगने योग्य है। दृष्टजन्म वेदनीय संस्कार वह है, जिसका भोग इसी जन्ममें होगा और अदृष्टजन्मवेदनीय संस्कार वह है, जिसका भोग आगेके जन्ममें होगा। परन्तु अलौकिक पुरुषार्थपरायण योगीमें ऐसी शक्ति है कि, वे योगबलसे

दृष्टकर्मको प्रदृष्ट बना सकते हैं और अदृष्टको दृष्ट कर ले सकते हैं, अर्थात् जो कर्म इसी जन्ममें भोग होने लायक है, उसको बलात् पीछे हटाकर आगेके किसी जन्ममें भोगनेके लिये रख सकते हैं और जो कर्म किसी भविष्यत् जन्ममें भोगने योग्य था, उसे खींचकर इस जन्ममें भोग कर सकते हैं।' यही योगकी अलौकिक पुरुषार्थ-शक्ति है और इसी अलौकिकताके कारण ही योगशास्त्रमें लीन संस्कारके स्थानपर दो ही संस्कार माने गये हैं। अतः मनुष्य-योनिमें आकर वर्णाश्रमयुक्त आदि वर्णित दोनों उपायोंको अथवा उनमेंसे किसी एकका आश्रय करके क्रमशः स्वरूपकी ओर अग्रसर हो सकती है। लक्षितदानन्दमय ब्रह्म आध्यात्मिक, आधि-दैविक और आधिभौतिकरूपी भावत्रयमें पूर्ण हैं। अतः स्वरूप-साक्षात्कार द्वारा जीवको पूर्णताभाव करनेके लिये अपनेमें भी भावत्रयकी पूर्णता सम्पादन करना होता है। जीवमें कर्मके द्वारा आधिभौतिक पूर्णता, उपासनाके द्वारा आधिदैविक पूर्णता और ज्ञानके द्वारा आध्यात्मिक पूर्णता होती है। अतः सिद्धांत हुआ कि, निष्काम कर्मयोगका अनुष्ठान, अधिकारानुसार नवांगयुक्त उपासनाका अनुष्ठान और ज्ञानसाधन द्वारा जीव अपने समस्त संस्कारोंको परिशुद्ध और उन्नत करता हुआ अन्तमें जीवत्वको नष्ट करके सर्वत्र विराजमान, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप सच्चि-दानन्दसत्तामें विलीन होकर समस्त पुरुषार्थके चरम लक्ष्यरूप निः-श्रेयसपदको प्राप्त कर सकता है। जीव और ब्रह्मकी एकता तथा तत्त्वमसि आदि महावाक्योंकी चरितार्थता यहींपर हो जाती है। उस समय उस सिद्ध जीवन्मुक्तका क्रियमाण संस्कार, स्वरूपज्ञान द्वारा वासनानाशके साथ साथ आमूल नाशको प्राप्त हो जाता है, सञ्चित कर्मसंस्कार उसके केन्द्रको छोड़कर अनन्तव्यापी महाकाश-का आश्रय कर लेता है, केवल विदेहमुक्तिके पूर्वपर्यन्त भोग द्वारा

क्षय होनेके लिये प्रारब्ध संस्कारमात्र अवशिष्ट रह जाता है। वासनाका नाश हो जानेसे उस अवशिष्ट प्रारब्धभोगके द्वारा क्रियमाण संस्कारकी उत्पत्ति नहीं होती है। वह प्रारब्ध संस्कार भर्जित बीजवत् जीवन्मुक्त योगीके स्वरूपस्थित अन्तःकरणमें रहकर क्रमशः क्षय हो जाता है और जिस समय इस प्रकारसे समस्त प्रारब्ध क्षय हो जाते हैं उस समय जीवन्मुक्त महात्माको विदेहमुक्ति लाभ हो जाती है। उस समय आकाशपतित बिन्दुकी तरह उनका आत्मा व्यापक आत्मामें मिल जाता है और उनकी प्रकृति महा-प्रकृतिमें विलीन हो जाती है। प्रकृतिके स्वाभाविक परिणामसे जो चिज्जड़ग्रन्थि उत्पन्न हुई थी, उसका सम्पूर्ण भेदन यहांपर हो जाता है। अनादिकालसे जो आवागमनचक्र चल रहा था, यहां पर वह चक्र सम्पूर्ण शान्त हो जाता है और उस भाग्यवान् योगी-का आत्मा अनन्तकालके लिये अनन्त आनन्दमय परब्रह्मभावमें विलीन हो जाता है। यही वेद और वेदसम्मत समस्त शास्त्रानु-सार जीवतत्त्व है।

सृष्टिस्थितिप्रलयतत्त्व ।

'तत्वज्ञानके बिना निःश्रेयसप्राप्ति नहीं होती' इस सिद्धान्तके अनुसार अभी जीव अध्यात्मराज्यमें प्रवेश करनेका कुछ अधिकार लाभ करता है उसी समयसे उसके अन्तःकरणमें स्वतः ही यह प्रश्न उदय होने लगता है कि, "यह विश्व संसार कहांसे उत्पन्न हुआ, कब तक रहेगा और कभी इसका नाश होगा कि नहीं।" इसलिये वर्तमान प्रबन्धमें महाप्रकृतिके गर्भस्थित एक-एक ब्रह्माण्डकी सृष्टि, स्थिति तथा प्रलयके तत्वका कुछ दिग्दर्शन कराया जायगा। "जीवतत्व" नामक पूर्व वर्णित प्रबन्धमें यह विषय बताया गया है कि, अनन्त सृष्टिधाराके बीचमें चिज्जड़ग्रंथि द्वारा व्यष्टिजीवकी सत्ता किस प्रकारसे उत्पन्न होती है और प्रकृतिके तमोगुणमयी स्तरसे उद्भिज्जादिक्रम द्वारा उन्नत होकर अन्तमें सत्वगुणकी पूर्णावस्थाको प्राप्त हो परब्रह्मसत्तामें लय हो जाती है। इसलिये वर्तमान प्रबन्धमें व्यष्टि सृष्टिके वर्णन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसमें केवल महाप्रलयानन्तर समष्टिसृष्टि अर्थात् ब्रह्माण्डसृष्टि किस प्रकारसे होती है, इसीका वर्णन किया जायगा। सृष्टि क्यों होती है, इस विषयमें माण्डूक्यकारिकामें गौड़पादाचार्यने लिखा है:—

> "विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः।
> स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता॥
> इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः।
> कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः॥
> भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे।
> देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा॥"

सृष्टिके विषयमें कोई कहते हैं कि,

प्रकट करनेके लिये सृष्टि रची है, दूसरेकी उक्ति है कि, जिस प्रकार बिना विचारे ही स्वप्न अकस्मात् उत्पन्न हो आता है, उसी प्रकार जगत् भी अकस्मात् उत्पन्न हुआ है, तीसरा कोई कहता है कि, जगत् मायाका विकाशमात्र है, चौथेकी राय है कि, परमात्माकी इच्छा ही सृष्टिका कारण है, कालचिन्तनशील अन्य कोई कालसे ही भूतोंकी उत्पत्ति बताते हैं, कोई भोगार्थ और कोई परमात्माके क्रीड़ार्थ ही सृष्टिकी उत्पत्ति कहते हैं, परन्तु यह सब कल्पनाएं निर्मूलक हैं, क्योंकि आप्तकाम परमात्माको उक्त कोई भी स्पृहा स्पर्श नहीं कर सकती है, सृष्टि केवल स्वभावसे ही उत्पन्न होती है। इसमें कारण कुछ भी नहीं है। इसीलिये वेदमें कहा है:—

"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥"

जिस प्रकार ऊर्णनाभि (मकड़ी) बिना प्रयोजन ही तन्तुओंको फैलाता और सिकोड़ता रहता है, जिस प्रकार पृथ्वीमें बिना कारण ही ओषधिसमूह उत्पन्न होते रहते हैं और जिस प्रकार जीवित पुरुषके केशलोम स्वतः ही निर्गत होते रहते हैं, उसी प्रकार अक्षर पुरुष ब्रह्मसे समस्त विश्व स्वयं ही उत्पन्न होते रहते हैं। विभु परमात्माकी सत्ता सर्वत्र विद्यमान है, इसलिये उनकी शक्तिस्वरूपिणी प्रकृति भी सर्वत्र विद्यमान है। प्रकृति स्पन्दन-धर्मिणी है अर्थात् त्रिगुणानुसार स्पन्दित होता रहना प्रकृतिका स्वभाव है और परमात्माकी चित्सत्ताके सर्वव्यापी होनेसे जड़प्रकृतिमें इस प्रकारकी स्वाभाविक स्पन्दन क्रियाके लिये सदा ही अवकाश है। अतः परमात्माकी चित्सत्ताके आश्रयसे स्पन्दनधर्मिणी महाप्रकृतिमें स्वाभाविक स्पन्दनानुसार अनन्त सृष्टिका विकाश होना स्वाभाविक ही है, इसमें कारणान्तरकी कोई भी अपेक्षा नहीं होती है। इसीलिये गीतामें:—

"स्वभावोऽध्यात्म उच्यते"

इस वचनके द्वारा विश्वसृष्टिको स्वाभाविक ही कहा गया है। इसमें परमात्माकी ओरसे कोई भी इच्छा, प्रेरणा या क्रिया नहीं है। यथा विष्णुपुराणमें:—

"निमित्तमात्रमेवासीत् सृज्यानां सर्गकर्मणि।
प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः॥
निमित्तमात्रमुक्त्वैकं नान्यत् किञ्चिदवेक्षते।
नीयते तपतां श्रेष्ठ ! स्वशक्त्या वस्तु वस्तुताम्॥"

सृष्टिक्रियामें परमात्मा निमित्तमात्र है। वस्तुओंकी निज निज प्रकृति ही महाप्रकृति द्वारा उद्बुद्ध होकर सर्गकार्यको सम्पादन करती है। ईश्वरकी निमित्तकारणताके सिवाय इसमें और कोई भी अपेक्षा नहीं है और महाप्रलयानन्तर ब्रह्माण्ड सृष्टिके विषयमें ईश्वरकी जो एकसे बहुत होनेकी इच्छा वेदादि शास्त्रोंमें वर्णित की गई है, वह भी उनकी अपनी इच्छा नहीं है। वह केवल प्रलयविलीन समष्टि जीवोंके समष्टि कर्मानुसार इच्छा अनिच्छारूप स्वतः इच्छामात्र है। अतः क्या ब्रह्माण्ड, क्या पिण्ड, क्या विराट् त्रिविध सृष्टि ही परमात्माकी चित्सत्ताके अवलम्बन मात्रसे स्पन्दनधर्मिणी प्रकृतिके स्वाभाविक स्पन्दन द्वारा स्वाभाविक विकाशमात्र है। मायातीत निर्गुण ब्रह्मपदमें सद्भाव, चिद्भाव और आनन्दभावकी एकरसता होनेसे वहांपर आनन्दभावका विकाश नहीं है। आनन्द सत् और चित्के भीतर व्यापकरूपसे रहता है और इसकी अभिव्यक्ति सत् और चित्के घात-प्रतिघात द्वारा हुआ करती है। अद्वैतमें तीनोंकी ही सत्ता एक दूसरेमें लवलीन रहनेसे सत् और चित्का संघर्षण नहीं है और इसलिये आनन्दका भी उसमें विकाश नहीं है। आनन्द केवल द्वैतावस्थामें सञ्चित संघर्षण द्वारा कभी सत्के आश्रयसे और कभी चित्के आश्रयसे विकाशको प्राप्त होता

है। उत्पत्तिधर्मिणी प्रकृतिमें इस प्रकारसे आलम्बका विकाश होना स्वाभाविक है, अतः सृष्टि भी स्वाभाविक है।

ब्रह्माण्ड सृष्टिके पहले क्या था, इस विषयमें वेदादि समस्त शास्त्रोंकी एकवाक्यता है :

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्।

सृष्टिके पहले अद्वितीय ब्रह्म एकाकी ही थे। ऐतरेयोपनिषद्में लिखा है—

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चनमिषत्।"

सृष्टिके पूर्व अद्वितीय आत्मा ही थे, व्यापारवान् और कोई भी वस्तु नहीं थी। मनुसंहितामें लिखा है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

प्रलयदशामें समस्त ब्रह्माण्ड घोर तमोगुणमें आच्छन्न रहता है। यह अवस्था सर्वथा अप्रत्यक्ष, अननुमेय, शब्दके द्वारा भी अप्रकाशनीय, अविज्ञेय तथा क्रियाभावके कारण गाढ़ सुषुप्ति-समाच्छन्नकी तरह है। विष्णुपुराणमें लिखा है:—

नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमि-
र्नासीत्तमो ज्योतिरभून्न चान्यत्।
श्रोत्रादिबुद्ध्यानुपलभ्यमेकं
प्राधानिकं ब्रह्म पुमांस्तदासीत्॥

प्रलयावस्थामें दिन, रात्रि, आकाश, भूमि, अन्धकार, प्रकाश या और कुछ भी नहीं था। इन्द्रिय तथा मनबुद्धिसे अगोचर एकमात्र ब्रह्म ही उस समय विराजमान थे। उसके बाद सृष्टि कैसे हुई इस प्रश्नके उत्तरमें श्रुतिने कहा है—

सोऽकामयत बहु स्याम् प्रजायेयेति॥ स तपोऽतप्यत।

यस्य ज्ञानमयं तपः॥ तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते॥

परमात्माने इच्छा की कि, मैं एकसे बहुत हो जाऊं और प्रजाओंकी सृष्टि करूं, इस प्रकार इच्छा करके परमात्माने तप किया। उनका तप ज्ञानरूप ही है, साधारण तपश्चर्या नहीं है। ज्ञानमय तपके अनन्तर ब्रह्ममें ईश्वरभावका अभिनिवेश हुआ जिससे प्रलयविलीन ब्रह्माण्ड-प्रकृतिमें अव्याकृतसे व्याकृतावस्थाकी सूचना हुई। इस तरहसे अद्वितीय परमात्माकी इच्छासे उनकी शक्तिरूपिणी प्रकृतिका विकास होता है, और तदनन्तर त्रिगुणमयी प्रकृतिके गुणवैषम्यद्वारा क्रमशः ब्रह्माण्डसृष्टिका विकाश होता है। अब इस विषयमें पाश्चात्य विज्ञानशास्त्रका अबतक निश्चित सिद्धान्त बताकर पश्चात् आर्यशास्त्रीय सिद्धान्तोंका क्रमशः वर्णन किया जायगा।

विज्ञानशास्त्र (Science) के मतानुसार समस्त सृष्टि दो भागमें विभक्त की जा सकती है, यथा स्थावर (inorganic) और जङ्गम (organic)। समुद्र, नदी, जल, स्थल, पर्वत आदि सभी स्थावर हैं और पशु, पक्षी, कीट, मनुष्य आदि सभी जङ्गम हैं। विज्ञानशास्त्रके मतानुसार समस्त स्थावर पदार्थ सत्तर मूलभूत (elements) के संयोग और संहनन द्वारा उत्पन्न हैं और समस्त जङ्गम पदार्थको विश्लेषण करनेपर उनके शरीरके उपादान-रूपसे कोषाणु (cell) पाये जाते हैं। इन कोषाणुओंको भी विश्लेषण करनेपर उनमें कुछ मूलभूत (elements) प्राप्त होते हैं। अतः सिद्धान्त हुआ कि, अनन्त वैचित्र्यमय स्थावरजङ्गमात्मक समस्त जगत् ही उल्लिखित हाईड्रोजेन, अक्सिजेन, कारबन आदि ७० मूलभूतोंके संयोग और संहनन द्वारा उत्पन्न है। बहुत दिनोंतक पाश्चात्य वैज्ञानिकोंकी यह धारणा थी कि, इन सब मूलभूतोंके

परमाणु पृथक् पृथक् हैं और नित्य हैं। अर्थात् आक्सिजेनके परमाणु चिर दिन आक्सिजेनके ही रहेंगे, हाईड्रोजेनके परमाणु उसीके रहेंगे इत्यादि और उनमें एक भूतके परमाणुओंके साथ दूसरे भूतके परमाणुओंका कुछ भी मेल नहीं है। परन्तु अब सर क्रूलियम क्रुक्स साहबने यह प्रमाणित कर दिया है जिसको सभी वैज्ञानिक जगत्‌ने मान लिया है कि, रसायनोक्त ७० मूलभूत वास्तवमें चरम मूलभूत नहीं हैं और उनकी नित्यता भी नहीं है। वे सब प्रोटाईल (Protyle) नामक एक चरम भूतके विकार-मात्र हैं। प्रोटाईल ही सृष्टिका निर्विशेष चरम उपादान है, जिसके संयोग और संहननसे समस्त विश्वकी उत्पत्ति हुई है। ७० मूल-भूतके सभी परमाणु अद्वितीय प्रोटाईलसे ही उत्पन्न हुए हैं। वे परस्पर मौलिक पृथक्‌तासे युक्त नहीं हैं, परन्तु एकहीके विकार मात्र हैं। इस प्रकारसे अनन्त वैचित्र्यमय स्थूल जगत्‌के मूलमें अद्वितीय प्रोटाईलकी सत्ता प्रमाणित करके पाश्चात्य वैज्ञानिकोंने सांख्यदर्शनोक्त "प्रकृतेः सर्वोपादानता। मूले मूलाभावादमूलं मूलम्।" इस सूत्रका कुछ सार्थक्य अनुमान किया है। स्थूलजगत्‌के विषयमें इस प्रकार सिद्धान्त करके तदनन्तर पाश्चात्य वैज्ञानिकोंकी दृष्टि शक्तिराज्यकी ओर पड़ी जिससे शक्तिके अनन्त भेदोंका तत्त्वानुसंधान करते करते उन्होंने यह पता लगाया कि, समस्त भौतिक शक्ति ही छः विभागके अन्तर्गत है। यथा गति (motion), ताप (heat), प्रकाश (light), विद्युत् (electricity) चुम्बक-शक्ति (magnetism) और रसायनशक्ति (chemical affinity)। इनके सिवाय और भी दो शक्तियाँ हैं यथा प्राणशक्ति (vital force) और जीवशक्ति (psychic force)। बहुत दिनोंतक पाश्चात्य वैज्ञानिकोंका यह विश्वास रहा कि, ये अष्टविध शक्तियां परस्पर विभिन्न और स्वतन्त्र पदार्थ हैं। ये आठ ही एक महाशक्तिकी

भावान्तरमात्र है ऐसा अनुमान उन लोगोंको नहीं हो सका। तदनन्तर सर उईलियम ग्रोभ नामक एक वैज्ञानिक पण्डितने प्रतिपादन कर दिया कि, उल्लिखित ताप आदि छः प्रकारकी शक्ति परस्पर रूपान्तर भावको प्राप्त हो सकती है। अर्थात् विद्युत्से ताप, प्रकाश या चुम्बक शक्ति उत्पन्न हो सकती है, पुनः ताप, प्रकाश आदिको विद्युत्रूपमें परिणत किया जा सकता है इत्यादि इस प्रक्रियाको उन्होंने शक्तिसमावर्त्तन (co-relation of Physical forces) नाम दिया। हेलमहोल्स और मायर साहबने इस तत्त्वको और भी दृढ़मूल किया। अन्तमें प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक हार्वर्ट-स्पेन्सरने स्पष्ट प्रमाणित कर दिया कि, केवल भौतिक शक्ति ही नहीं, अधिकन्तु प्राणशक्ति तथा जीवशक्ति भी इसी समावर्त्तन विधिके अन्तर्गत हैं अर्थात् सभी प्रकारकी शक्ति ही एक दूसरेमें रूपान्तरित हो सकती है। वास्तवमें शक्तिका ह्रास या वृद्धि नहीं है, उपचय या अपचय नहीं है, केवल आविर्भाव तिरोभाव तथा रूपान्तर भावान्तर मात्र है। हार्वर्ट स्पेन्सर कहते हैं कि, विश्वमें विकाशशील समस्त शक्तियोंके मूलमें कोई अज्ञेय अचिन्तनीय व्यापक शक्ति है, जिसका कदापि नाश नहीं होता है, और जिसके ही रूपान्तर तथा भावान्तररूपसे तापशक्ति ताड़ितशक्ति, चुम्बक-शक्ति आदि अनन्त विकार प्राप्त अनन्त शक्तियोंका संसारमें आवि-र्भाव तिरोभाव होता रहता है। इतना कहकर अन्तमें हार्वर्ट-स्पेन्सर तथा वालेस साहबने यह भी कह दिया है कि, केवल शक्तिराज्यमें ही नहीं; अधिकन्तु स्थूल भौतिकराज्यमें भी उक्त महाशक्तिका समावेश है अर्थात् स्थूल सूक्ष्म समस्त जगत् एक ही अद्वितीय शक्तिका घनीभाव मात्र है। इस प्रकारसे अनेक मनस्वी पाश्चात्य पण्डितोंने स्थूल सूक्ष्म वैचित्र्यपूर्ण सृष्टिके मूलमें अतिमहान् नित्य विभु एक अद्वितीय महाशक्तिके अस्तित्वका

अनुमान किया है। और उसके विषयमें कुछ भी जाननेकी शक्ति न होनेसे उस महाशक्तिको अज्ञेय अचिन्तनीय कहकर छोड़ दिया है। यह एक अतीव आनन्द और विस्मयकी बात है कि, जहाँपर पाश्चात्य दार्शनिक तथा वैज्ञानिक पण्डितोंने हताश होकर छोड़ दिया है वहींसे हमारे पूज्यपाद त्रिकालदर्शी, तत्त्वदर्शी महर्षियोंने अपनी गम्भीर गवेषणाको प्रारम्भ करके उस महाशक्तिका पूर्ण स्वरूप तथा जड़चेतनात्मक समस्त जगत्‌में अपूर्व लीलाको योग दृष्टि द्वारा प्रत्यक्ष करके जिज्ञासु तथा मुमुक्षु जनोंके लिये निःश्रेयस द्वारको उन्मुक्त कर दिया है। यह कैसे है सो नीचे क्रमशः बताया जाता है।

आर्यशास्त्रमें प्रकृतिको ब्रह्मशक्ति कहकर शक्तिसे शक्तिमान्‌का अभेद तथा अनन्त विश्वमें विविधरूपमें अभिव्यक्त विविध शक्तियोंका मूलकेन्द्र शक्तिमान् परमात्माको ही माना गया है, यथा श्रुतिमें—

ब्रह्मणः सकाशान्नानाविचित्रजगन्निर्माणसामर्थ्यंबुद्धिरूपा ब्रह्मशक्तिरेव प्रकृतिः।"

जिसमें विचित्र जगन्निर्माण सामर्थ्य है और जो ब्रह्मसे ही उत्पन्न होती है, उस ब्रह्मशक्तिको प्रकृति कहते हैं।

चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम ! शरीरेषूपलभ्यते।
स्पन्दशक्तिश्च वातेषु दार्ढ्यशक्तिस्तथोपले॥
द्रवशक्तिस्तथाम्भःसु दाहशक्तिस्तथाऽनले।
शून्यशक्तिस्तथाकाशे नाशशक्तिर्विनाशिनी॥

जीवशरीरमें चेतनशक्ति, पवनमें स्पन्दनशक्ति, प्रस्तरमें काठिन्यशक्ति, जलमें द्रवशक्ति, अग्निमें दाहिकाशक्ति, आकाशमें शून्यशक्ति तथा विनाशीमें नाशशक्ति ये सभी परमात्मासे स्वतः निर्गत,

मायाके आश्रयसे अभिव्यक्त शक्तिसमूह हैं। इसी प्रकार गीतामें भी लिखा है। यथा—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

जो तेज सूर्यमें स्थित होकर समस्त संसारको उद्भासित करता है, जो तेज चन्द्रमा तथा अग्निमें स्थित है, वे सभी मेरे तेज हैं।

अतः यह सिद्धान्त हुआ कि, जिस सर्वतो व्यापिनी महाशक्तिको हार्बर्ट स्पेन्सर आदि पाश्चात्य पण्डितोंने अचिन्त्य अज्ञेय कहकर छोड़ दिया था वही महाप्रकृति है, जिसके त्रिगुण परिणाम द्वारा निखिल सृष्टिका विस्तार होता है।

आर्यशास्त्रमें महाप्रकृतिसे सृष्टिविकाशके विषयमें अनेक वर्णन मिलते हैं। सांख्यदर्शनमें लिखा है—"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि"। इसीको विष्णुपुराणमें विस्तार-रूपसे बताया गया है। यथा—

परमात्माके अधिष्ठान द्वारा साम्यस्थ प्रकृतिमें वैषम्य होकर महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ। महत्तत्त्व सात्त्विक, राजसिक और तामसिक है। बीज जिस प्रकार त्वक् द्वारा आवृत रहता है, उसी प्रकार साम्यस्थ प्रकृति अर्थात् प्रधान तत्त्वके द्वारा महत्तत्त्व आवृत हो गया। महत्तत्त्वसे अहंतत्त्वकी उत्पत्ति होती है। अहंतत्त्व भी सात्त्विक, राजसिक, तामसिक भेदसे त्रिविध है। अहंतत्त्वके त्रिगुणात्मक होनेसे ही वह भूतेन्द्रियोंका उत्पत्तिकारण हो सकता है। जिस प्रकार प्रधानके द्वारा महत्तत्त्व आवृत होता है, उसी प्रकार महत्तत्त्वसे भी अहंतत्त्व आवृत हुआ। तामसिक अहंतत्त्वके क्षोभित अर्थात् क्रियोन्मुख होनेसे शब्दतन्मात्रा और उससे शब्द-गुण-विशिष्ट आकाशकी उत्पत्ति होती है। तामस अहंकार द्वारा

आकाश आवृत होता है। आकाशके क्षोभित होनेसे स्पर्शतन्मात्रा और उससे स्पर्शगुणयुक्त वायुकी उत्पत्ति होती है। आकाश वायुको आवृत करता है। तदनन्तर वायुके क्षोभसे रूपतन्मात्रा और उससे रूपगुणविशिष्ट अग्निकी उत्पत्ति होती है। वायु अग्निको आवृत करता है। तदनन्तर अग्निके क्षोभसे रसतन्मात्रा और उससे रसगुणयुक्त जलकी उत्पत्ति होती है, अग्नि जलको आवृत करती है। तदनन्तर जलमें क्षोभ होनेसे गन्धतन्मात्राकी उत्पत्ति होती है, जिससे गन्धगुणयुक्त पृथिवी उत्पन्न होती है। जल पृथिवीको आवृत करता है। उल्लिखित पञ्च सूक्ष्म तत्त्वोंमें शब्दादि गुणमात्रा रहनेसे उन गुणोंका नाम तन्मात्रा हुआ है। तदनन्तर राजसिक और सात्त्विक अहंकारके परिणाम द्वारा सृष्टि तथा स्थूलमहाभूत–सृष्टिके विषयमें विष्णुपुराणमें लिखा है:—

"भूततन्मात्रसर्गोऽयमहंकारात्तु तामसात् ।
तैजसानीन्द्रियाण्याहुर्देवा वै कारिका दश ॥
एकादशं मनश्चात्र देवा वै कारिका स्मृताः ॥
त्वक् चक्षुर्नासिका जिह्वा श्रोत्रमत्र च पञ्चमम् ॥
शब्दादीनामवाप्त्यर्थं बुद्धियुक्तानि वै द्विज ।
पायूपस्थौ करौ पादौ वाक् च मैत्रेय ! पञ्चमी ॥
विसर्गशिल्पगत्युक्तिः कर्म तेषाञ्च कथ्यते ।
आकाशवायुतेजांसि सलिलं पृथिवी तथा ॥
शब्दादिभिर्गुणैर्ब्रह्मन् संयुक्तान्युत्तरोत्तरैः ।
शान्ता घोराश्च मूढ़ाश्च विशेषास्तेन ते स्मृताः ॥

तामसिक अहंकारसे भूत तन्मात्राओंकी उत्पत्ति होती है। राजस अहंकारसे पञ्चकर्मेन्द्रिय और पञ्चज्ञानेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। सात्त्विक अहंकारसे दश इन्द्रियोंके दश देवता, मन तथा मनके देवता उत्पन्न होते हैं। त्वक्, चक्षु, नासिका, जिह्वा

और श्रोत्र—ये पञ्चज्ञानेन्द्रिय शब्दादि ग्रहणार्थ बुद्धियुक्त हैं। पायु, उपस्थ, कर, पाद और वाक्—ये पांच कर्मेन्द्रिय हैं जिनके कार्य विसर्ग, शिल्प, गति और उक्ति हैं। ये ही सब राजसिक सात्विक अहंकारके परिणाम द्वारा उत्पन्न सृष्टि है। तदनन्तर पञ्चतन्मात्राओं या सूक्ष्म पञ्चतत्वोंसे स्थूल पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति होती है। इसमें आकाश, वायु, तेज, सलिल, पृथिवी उत्तरोत्तर शब्दादि गुणयुक्त हैं और शान्त, घोर, मूढ़धर्मी होनेसे इनको विशेष भूत कहते हैं। इनके गुणोंके विषयमें मनुसंहितामें लिखा है:—

"आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः।
यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः॥"

परपरके महाभूत पूर्व पूर्वके महाभूतोंसे उनके गुणोंको प्राप्त करते हैं। प्रथम महाभूत एक गुणविशिष्ट, द्वितीय दो गुणविशिष्ट और तृतीय तीन गुणविशिष्ट इत्यादि रूपसे महाभूतोंके गुण समझने चाहिये।

आकाशका गुण केवल शब्द है, वायुके गुण शब्द और स्पर्श हैं, अग्निके गुण शब्द, स्पर्श और रूप हैं, जलके गुण शब्द, स्पर्श, रूप और रस हैं। पृथ्वीके गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध हैं। श्रीमद्भागवतमें इन सब तत्वोंके विषयमें सुन्दर वर्णन मिलता है। यथाः—

"ईश्वराधिष्ठित कालसे गुणोंका क्षोभ, स्वभावसे परिणाम और कर्मसे महत्तत्वकी उत्पत्ति होती है। रजःसत्वगुणोंकी वृद्धिसे महत्तत्वमें विकार उत्पन्न होकर तमःप्रधान द्रव्यज्ञानक्रियात्मक अहंतत्वकी उत्पत्ति होती है। अहंतत्व तमःप्रधान होनेपर भी त्रिगुणमयी प्रकृतिका ही परिणाम होनेके कारण उसमें तीनों गुणोंका सम्बन्ध रहता है। अतः अहंतत्व भी सात्विक, राजसिक तथा तामसिक भेदसे त्रिधा विभक्त है। सात्विक अहंकार ज्ञानशक्ति

प्रधान है, राजसिक अहंकार क्रियाशक्ति-प्रधान है और तामसिक अहंकार द्रव्यशक्ति-प्रधान है। विकारप्राप्त तामसिक अहंकारसे आकाश उत्पन्न होता है, जिसका गुण शब्द है। विकृत आकाशसे स्पर्शगुणात्मक वायुकी उत्पत्ति होती है। आकाशके परवर्त्ती होनेसे वायुमें शब्दगुण भी है। देहधारण और इन्द्रिय, मन तथा शरीरकी पटुता वायुका कार्य है। विकारप्राप्त वायुसे रूपवान् अग्निकी उत्पत्ति होती है। आकाश और वायुके परवर्त्ती होनेसे अग्निमें शब्द और स्पर्श—ये दो गुण भी हैं। विकृत अग्निसे रसात्मक जल उत्पन्न होता है। इसमें पूर्वोक्त तीनों तत्त्वोंके गुण, शब्द, स्पर्श और रूप भी हैं। विकारप्राप्त जलसे गन्धगुणयुक्त पृथिवीतत्त्वकी उत्पत्ति होती है। सकलतत्त्वके अन्तिम होनेसे पृथिवीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँचों गुण विद्यमान हैं। इस तरहसे तमःप्रधान अहंतत्त्व द्वारा पञ्चतत्त्वोंकी उत्पत्ति होती है। सत्त्व-प्रधान अहंतत्त्वसे अन्तःकरण तथा दशइन्द्रियाधिष्ठात्री देवता-ओंकी उत्पत्ति होती है, उनके नाम दिक्, वात, अर्क, प्रचेता, अश्विनीकुमार, वह्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मित्र और प्रजापति हैं। रजः-प्रधान अहंतत्त्वसे पांच कर्मेन्द्रियों और पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। सांख्यकारिकामें तीन गुणोंके लक्षणके विषयमें कहा है:—

"सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः, गुरुवरणक-मेव तमः।"

सत्त्वगुण लघु और प्रकाशक है, रजोगुण प्रेरक और सक्रिय है, तमोगुण गुरु और आवरणकारी है। इसी कारणसे अहंतत्त्वमें सत्त्वगुणकी प्रधानता द्वारा लघु तथा प्रकाशक अन्तःकरणकी उत्पत्ति होती है, रजोगुणकी प्रधानता द्वारा प्रेरक तथा क्रियाशील इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है और तमोगुणकी प्रधानता द्वारा पर-माणुपुञ्जके समावेशसे गुरु अर्थात् भारी और आवरणशील पञ्च-

तत्त्वों तथा उनके भी पञ्चीकरणसे पृथिवी, अप्, तेज आदि पञ्चीकृत महाभूतोंकी उत्पत्ति होकर सर्वत्र परिदृश्यमान स्थूल ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति हो जाती है। यही समस्त आर्यशास्त्रके मौलिक सिद्धान्तानुसार भौतिकब्रह्माण्ड-सृष्टिविस्तारका क्रम है।

अपञ्चीकृत सूक्ष्म पञ्चतत्त्वोंसे स्थूल पञ्चीकृत महाभूत कैसे उत्पन्न होते हैं, इसके विषयमें पञ्चदशीमें लिखा है:—

"तद्भोगाय पुनर्भोग्यभोगायतनजन्मने।
पञ्चीकरोति भगवान् प्रत्येकं वियदादिकम्॥
द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते॥
तैरण्डस्तत्र भुवनभोग्यभोगाश्रयोद्भवः।
हिरण्यगर्भः स्थूलेऽस्मिन् देहे वैश्वानरो भवेत्॥

सूक्ष्म पञ्चतन्मात्राएँ या पञ्चतत्त्व त्रिगुणमय होते हैं। इसलिये उनसे जीवभोगार्थ स्थूल पंचभूतनिर्माणके समय परमात्मा तमोगुणपर अधिष्ठान करके अपंचीकृत महाभूतोंको पंचीकरणकी विधि द्वारा स्थूल इन्द्रियगम्य बनाते हैं। वह विधि यह है:–प्रथमतः आकाशादि पंच सूक्ष्म भूतोंमेंसे प्रत्येकको समान दो भागमें विभक्त करके तदनन्तर द्विधा विभक्त उस प्रत्येक अंशको भी चतुर्धा विभक्त करना चाहिये। तदनन्तर प्रथमोक्त अर्द्धांशोंके साथ द्वितीयोक्त चार भागोंके एक एक अंशकी योजना करनेपर पंचीकरण हो जाता है। इसमें प्रत्येक पंचीकृत महाभूतोंमें अपने अंशका अर्द्ध और बाकी चार भूतोंमेंसे प्रत्येकका अष्टांशरूपसे मिलित अर्द्धभाग-इस प्रकारसे भाग होता है। यथा, पंचीकृत पृथ्वीमें पृथ्वीका अर्द्धांश और बाकी जल, अग्नि, वायु और आकाश इन चार भूतोंमेंसे प्रत्येकका अष्टमांश करके मिलित अर्द्धांश रहेगा। इसी प्रकार पंचीकृत जलमें जलका अर्द्धांश और बाकी चार भूतोंके

मिलित अर्द्धांश होंगे। इसी प्रकार अन्य तीन पंचीकृत महाभूतोंका भी उपादान समझ लेना चाहिये। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंसे लेकर चतुर्दशभुवनमय एक ब्रह्माण्ड तथा एक स्थूलशरीररूपी पिण्डतक सभी इसी पञ्चीकृत पञ्च महाभूतोंके उपादान द्वारा निर्मित हुए हैं। समस्त स्थूल शरीर तथा भोग्यवस्तुएँ पंचीकृत महाभूतोंसे ही बनी हुई होती हैं और पंचीकृत महाभूतमय इस समष्टि-शरीरपर हिरण्यगर्भ अधिष्ठान करते हैं। यही त्रिगुण परिणाम द्वारा हिरण्यगर्भके अधिष्ठानके उत्पन्न ब्रह्माण्ड-पिण्डमय भौतिक सृष्टि है, जिसके स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप तीन विभाग किये जाते हैं, और इन्हीं तीन विभागोंको अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय, इन पञ्चकोश नामसे पांच भागोंमें भी विभक्त किया जाता है।

अब ज्योतिःशास्त्रके सिद्धान्तानुसार स्थूल ब्रह्माण्डका कुछ वर्णन किया जाता है। प्रत्येक ब्रह्माण्डकी केन्द्रशक्ति सूर्य है। तदनुसार इस ब्रह्माण्डवर्त्ती सूर्य ही इस ब्रह्माण्डका केन्द्रस्थानीय है। समस्त ग्रह उपग्रह उसीकी आकर्षण-विकर्षणशक्तिके प्रभावसे उसीकी चारों ओर अनुक्षण प्रदक्षिणा किया करते हैं। समस्त ब्रह्माण्डमें ज्योतिष्मान् कोई भी वस्तु नहीं है। समस्त ज्योतिके आधाररूप सूर्यसे ही ब्रह्माण्डके अन्तर्गत समस्त ग्रह उपग्रहमें ज्योतिका सञ्चार होता है। हमारे सूर्यपरिवारमें अबतक ऐसे २६८ ग्रह उपग्रह देखे गये हैं जो सूर्यकी ज्योतिसे ज्योतिष्मान् होकर सूर्यकी चारों ओर घूमते हैं। ग्रहगण सूर्यको प्रदक्षिण करतेहैं और उपग्रहगण ग्रहोंको प्रदक्षिण करते हैं और इन सब ग्रह उपग्रहोंको लेकर सूर्य भी ध्रुवकी चारों ओर प्रदक्षिण करते हैं। समस्त ग्रह-उपग्रहोंका स्थूलशरीर पृथ्वी जल आदि पञ्चभूतोंसे बना हुआ है। केवल किसीमें कोई भूत प्रधान है और किसीमें कोई भूत

प्रधान है। समस्त ग्रह-उपग्रहोंमें ही नानाप्रकारके जीवोंका वास है। कोई भी जीवशून्य नहीं है। उल्लिखित २६८ ग्रह-उपग्रहोंमेंसे प्रधान ग्रह ८ हैं, क्षुद्र ग्रह २४० हैं और उपग्रह या चन्द्र २० हैं। पृथ्वी ग्रहका एक चन्द्र है, मङ्गलको दो, बृहस्पतिको ४, शनिको ८, यूरेनसको और नेपचुनका एक—इस प्रकारसे २० चन्द्र हैं। आठ प्रधान ग्रहोंमेंसे बुधग्रह सूर्यके सबसे अधिक निकटस्थ है, यह ग्रह सूर्यसे प्रायः ३७०००००० मील दूरपर रहकर प्रति मिनिट १८०० मीलके हिसाबसे ८८ दिनोंमें एकबार सूर्यको प्रदक्षिण कर लेता है। अतः बुधग्रहवाली जीवोंका सम्वत्सर ८८ दिनोंमें ही पूर्ण होता है। बुधका व्यास ३१४० मील है और उसका आयतन पृथ्वीके एक तृतीयांश-तुल्य है। बुध ग्रहका दिन पृथ्वीके दिनसे बड़ा है और सूर्यज्योति तथा सूर्योत्तापका भी प्रभाव पृथ्वीसे बुधग्रहपर अधिक पड़ता है। बुधग्रहके बाद शुक्रग्रह है। यह ग्रह सूर्यसे प्रायः ६८०००००० मील दूर पर रहकर प्रति मिनिट १२६० मीलके हिसाब-से २२५ दिनोंमें सूर्यकी चारों ओर प्रदक्षिण करता है। इसका व्यास ७६६० मील है और आयतन पृथ्वीके आयतनके समान ही है। इसका दर्शन पृथ्वीसे सायंकाल तथा प्रातःकाल दोनों समय पर ही होता है, शुक्रग्रह सूर्यालोकसे बड़ा ही उद्भासित होता है। पश्चिमदेशीयशास्त्रमें रूप तथा प्रेमकी अधिष्ठात्री भिनस देवतारूपसे इसकी पूजाका वर्णन पाया जाता है। शुक्रग्रहके बाद पृथ्वी ग्रह है। यह ग्रह सूर्यसे ९२७००००० मील दूर पर रहकर प्रति मिनिटमें प्राय १०८० मीलके हिसाबसे ३६५¼ दिनोंमें ५८३०००००० मील पथके परिभ्रमण द्वारा एकवार सूर्यको प्रदक्षिण करता है। पृथ्वीका व्यास ७९१८ मील है और परिधि २४८७७ मील है। बुध और शुक्रग्रहका चन्द्र नहीं है परन्तु पृथ्वीग्रह एक चन्द्रके द्वारा आलोकित होता है। यह चन्द्र पृथ्वीसे २४०००० मील दूरपर रहकर प्रायः २८ दिनोंमें

एकबार पृथ्वीको प्रदक्षिण करता है। चन्द्रका व्यास प्रायः २१६० मील है और परिधि प्रायः ६७८४ मील है। चन्द्र पृथ्वीसे बहुत छोटा है और इतना छोटा होनेसे ही पृथ्वी उसको लेकर सूर्यकी प्रदक्षिण कर सकती है। पृथ्वीके बाद मङ्गलग्रह है। यह ग्रह सूर्यसे प्रायः १४४०००००० मील दूरपर रहकर प्रति मिनिट ८१६० मीलके हिसाबसे ६८७ दिनोंमें एकबार सूर्यको प्रदक्षिण करता है। मङ्गल-ग्रहका व्यास पृथ्वीग्रहके व्यासार्द्धसे कुछ बड़ा है। अतः उसका आयतन पृथ्वीके आयतनसे बहुत ही छोटा है। मङ्गलग्रहका दिन-परिमाण प्रायः पार्थिव दिन परिमाणके समान ही है परन्तु पृथ्वीके दो वर्षमें मङ्गलका एक वर्ष होता है। पृथ्वी अपने कक्षमें जितने वेगके साथ भ्रमण करती है, मङ्गलका भ्रमणवेग प्रायः उसका आधा है क्योंकि वह सूर्यसे कुछ दूरपर है और इसलिये उसपर सूर्यकी आकर्षणशक्तिका प्रभाव भी कुछ कम पड़ता है। ज्योतिर्विद्‌ पण्डितोंने निश्चय किया है कि, मङ्गलग्रह ठीक पृथ्वीकी तरह जल-स्थलपर्वतादिसे सुशोभित है इसलिये वहाँके निवासी जीव भी मनुष्योंकी तरह होंगे—ऐसा अनुमान बहुत लोग करते हैं। पृथ्वीका जिस प्रकार एक चन्द्र है, उस प्रकार मङ्गलके भी दो चन्द्र हैं। परन्तु उनकी ज्योति चन्द्रज्योतिकी तरह मधुर नहीं है। पाश्चात्य शास्त्रमें मङ्गलको रणदेवता करके वर्णन किया गया है। हिन्दूशास्त्रमें भी मङ्गलग्रहका ध्यान इसी प्रकार किया जाता है। यथाः—

धरणीगर्भसम्भूतं विद्युत्पुञ्जसमप्रभम्।
कुमारं शक्तिहस्तं च लोहिताङ्गं नमाम्यहम्॥

बुध और शुक्रग्रह अन्तश्चर ग्रह हैं; क्योंकि सूर्य और पृथिवीके अन्तर्वर्त्ती स्थानोंमें ही वे भ्रमण करते हैं। बाकी मङ्गलसे लेकर सब ग्रह बहिश्चर हैं; क्योंकि इन सभोंका भ्रमणकक्ष पृथिवीके भ्रमण-कक्षसे बाहर है। मङ्गलके बाद बृहस्पति ग्रह है। परन्तु इन

दोनों ग्रहोंका कक्षमध्यवर्त्ती स्थान ३३८०००००० मील परिमित है। सौरजगत्‌का यह मध्यवर्त्ती स्थान २४० छोटे छोटे ग्रहोंका भ्रमण स्थान है और वे सभी अपने अपने कक्षपर भ्रमण करते हुए तेजो-निधान सूर्य्यदेवको प्रदक्षिण करते हैं। वे सब ग्रह इतने छोटे छोटे हैं कि इनमेंसे किसी किसीका व्यास ५० मीलसे भी कम है। इन सभोंके बाद बृहस्पतिका भ्रमण-स्थान है। बृहस्पति आर्यशास्त्रमें सुरगुरु कहे जाते हैं। पाश्चात्य शास्त्रमें भी जुपिटर कहकर इनकी पूजा होती है। यह ग्रह सब ग्रहोंसे बृहत् तथा विच्छिन्न-शरीर है। इसका आयतन पृथिवीके आयतनसे प्रायः तेरह सौ गुना बड़ा है। इसका व्यास ८५००० मील है, परिधि २६७०३६ मील है और जिस कक्षपर यह सूर्यको प्रदक्षिण करता है उसकी परिधि ३०८००००००० मील है, इसका दिन-परिमाण पृथिवीका दस घण्टा है और वर्ष-परिमाण ४३३३ दिन अर्थात् पृथिवी-ग्रहके प्रायः १२ वर्ष हैं। यह ग्रह सूर्य्यसे ४८४०००००० मील दूरपर रहकर प्रति मिनिट ४८० मीलके हिसाबसे प्रायः १२ वर्षमें एकबार सूर्य्यको प्रदक्षिण करता है। पृथिवीके एक चन्द्रकी तरह बृहस्पतिके चार चन्द्र हैं, उसका प्रथम चन्द्र एक दिन अठारह घण्टेमें, द्वितीय चन्द्र तीन दिन तेरह घण्टेमें, तृतीय चन्द्र सात दिन तीन घण्टेमें और चतुर्थ चन्द्र सोलह दिन सोलह घण्टेमें बृहस्पतिग्रहको प्रदक्षिण करते हैं। बृहस्पतिपर सूर्यालोक विशेषरूपसे प्रतिफलित होता है, इस कारण उन सब स्वल्पज्योतिर्युक्त चन्द्रोंमें भी बृहस्पतिकी किरण पहुंचती है। चन्द्र-चतुष्टयवेष्टित बृहस्पति ग्रहचतुष्टयवेष्टित सूर्यकी तरह प्रतीत होता है। बृहस्पतिग्रहके बाद शनैश्चर ग्रह है। यह ग्रह बृहस्पतिसे कुछ छोटा होनेपर भी पृथिवी-ग्रहसे ७२१ गुना बड़ा है। इसका व्यास ७१००० मील है और परिधि २२३००० मील है। यह ग्रह सूर्यसे ८८४०००००० मील दूरपर रहकर प्रति मिनिट ३५८ मीलके

हिसाबसे पार्थिव दिन परिमाणानुसार १०७५६ दिन अथवा साढ़े उनतिस वर्षमें सूर्यको एकबार प्रदक्षिण कर लेता है। शनैश्चर ग्रहका दिन-परिमाण साढ़े दस घण्टा है अर्थात् पृथिवीके दिन-परिमाणके आधेसे भी कम है। दूरवीक्षण यन्त्र-योगसे शनैश्चरकी बड़ी ही शोभामयी मूर्त्ति देखनेमें आती है। इस अपूर्व ग्रहमें अनेक रङ्गका विचित्र समावेश है। यथा-इसके दो प्रान्त अर्थात् उत्तर और दक्षिण मेरुके सन्निहित देश गोलाङ्गलफुलको तरह प्रगाढ़ नीलवर्णमय हैं। इसके अन्यान्य स्थानमें तरल पीतवर्ण है। मध्यभाग श्वेतवर्णमय और समस्त शरीर ही पिङ्गल, नील, लोहित तथा रक्तवर्णसे रञ्जित है। पृथिवी-ग्रहको एक चन्द्र सुशोभित करता है, परन्तु शनैश्चरग्रह आठ चन्द्रको सुशोतल किरणोंसे प्रफु-ल्लित रहता है। जिस समय आठ चन्द्र पूर्णकलासे सुशोभित होकर शनि ग्रहपर अपने अपने किरणजालका विस्तार करते हैं, उस समय शनैश्चरको मूर्त्ति बड़ी ही सुन्दर हो जाती है। केवल इतनेहीमें शनैश्चरकी शोभासम्पत्ति समाप्त नहीं होती है। इसका आश्चर्यजनक मनोहर कलेवर परस्पर असंलग्न तीन अपूर्व आलो-कवलयके द्वारा वेष्टित रहता है। ये सब वलय इतने वृहदाकार हैं कि, इनमेंसे प्रत्येकमें पृथिवी जैसे शत शत ग्रह पिण्डकी तरह दंगे रह सकते हैं। ज्योतिर्विद् पण्डितोंने निर्णय किया है कि, ये सब वलय छोटे छोटे असंख्य चन्द्रोंके संयोग द्वारा निर्मित हैं। अष्टचन्द्र-सुशोभित शनैश्चर भी वृहस्पतिको तरह अष्टग्रहसमन्वित सूर्यवत् प्रतीत होते हैं। शनैश्चरके परवर्त्ती ग्रहका नाम यूरेनस है। इसका व्यास ३२७०० मील है, और पृथिवीसे यह ग्रह प्रायः चौसठ गुना बड़ा है। यह ग्रह शनैश्चरके कक्षसे ८१६०००००० मील और सूर्यसे प्रायः १८००००००० मील दूरपर रहकर ३०६८७ दिवस अर्थात् मनुष्यमानके ८४ वर्ष २७ दिनोंमें सूर्यको प्रदक्षिण कर लेता

है। अन्यान्य ग्रहोंकी तरह यूरेनस ग्रहके भी चार चन्द्र हैं। यूरेनसके बाद नेपचुन ग्रह है। इसका व्यास ३४५०० मील है। यह ग्रह पृथिवीसे बहुत बड़ा है और यूरेनससे भी बड़ा है। इसके पृष्ठसे सूर्य एक समुज्ज्वल तारेकी तरह दीखते हैं। नेपचुनका अभीतक एक चन्द्र आविष्कृत हुआ है। यह ग्रह यूरेनसके कक्षसे ६८००००००० मील तथा सूर्यसे २७८००००००० मील दूरपर रहकर प्रति मिनिट १८० मीलके हिसाबसे ६०१२६ दिन अर्थात् पृथिवीके प्रायः एक सौ पैंसठ वर्षोंमें एक बार सूर्यको प्रदक्षिण करता है। नेपचुनके आगे और कोई भी ग्रह अबतक आविष्कृत नहीं हुआ है। इसलिये यदि नेपचुनको ही सूर्यमण्डलका सीमाग्रह अर्थात् अन्तिमग्रह कहा जाय तो इस सौर जगत् अर्थात् ब्रह्माण्डका व्यास ५७२०००००००० मील और इसकी परिधि १८०००००००० मील होती है। यही अनन्त आकाशमें अविराम भ्रमणशील हमारे ब्रह्माण्डका आनुमानिक परिमाण है, जिसकी केन्द्रशक्ति तथा समस्त प्रकाशके एक मात्र आकर-रूपसे भगवान् भास्करदेव उल्लिखित परिधिके अन्तर्गत २६८ ग्रहोपग्रहमालाओंको स्वकीय अनुपम शक्ति-जाल तथा किरणजालके द्वारा उद्भासित करते हुए अपने समस्त परिवार सहित द्रुततम वेगसे महासूर्यरूप ध्रुवकी चारों ओर निशि-दिन नियमितरूपसे प्रदक्षिण कर रहे हैं। सूर्यका व्यास ८५२६०० मील है और परिधि २६७८६७० मील है। अपने परिवारस्थित समस्त ग्रहउपग्रहोंको साथ लेकर सूर्य भी प्रति सेकण्ड ४ मील अथवा प्रति घण्टा १४४०० मीलके हिसाबसे चक्रभ्रमण कर रहे हैं। यही पञ्चभूतमय स्थूल ब्रह्माण्ड है। ऐसे ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों द्वारा श्रीभगवान्का विराट् स्थूल देह सुशोभित है। यही अनादि अनन्त आध्यात्मिक सृष्टिका मनवचन-बुद्धिसे अगोचर लोकोत्तरचम-त्कार स्वरूप है। अतः पर ब्रह्माण्डमें दैवीसृष्टिका वर्णन किया जायगा।

प्रत्येक ब्रह्माण्डमें चौदह भुवन हुआ करते हैं। भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक,— ये सात दैव ऊर्ध्वलोक कहाते हैं, तथा रसातल, पाताल आदि सात दैव अधोलोक कहाते हैं। ऊपरके सात लोकोंमें देवता बसते हैं और नीचेके सात लोकोंमें असुर बसते हैं। देवता और असुर दोनों ही देवयोनि हैं। केवल इतना भेद है कि, देवता सत्त्वगुण प्रधान होते हैं और असुर तमोगुण प्रधान होते हैं। देवताओंका और असुरोंका सम्बन्ध मनुष्यके प्रत्येक पिण्ड (शरीर) में भी हुआ करता है। मनुष्योंमें इसी कारण दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति रखनेवाले दो प्रकारके मनुष्य दिखाई देते हैं। दैवजगत्‌में देवताओं और असुरोंमें प्रायः युद्ध हुआ करता है, वही युद्ध देवासुर-संग्रामके नामसे शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है।

जब इस ब्रह्माण्डके चलानेका भार देवताओंपर रहता है, तब ब्रह्माण्डकी दशा अच्छी रहती है। जब कभी देवतागण भोगसे अपने तपको क्षय कर डालते हैं और प्रमादी बन जाते हैं, तब असुरगण अपने नीचेके सातों लोकोंसे आगे बढ़कर उच्च लोकोंमें अपना राज्यविस्तार करनेका यत्न करते हैं। जब कभी असुर जीत जाते हैं तभी ब्रह्माण्डमें अनेक प्रकारके विप्लव दिखाई देने लगते हैं। देवराजकी राजधानी तीसरे ऊर्ध्वलोक अर्थात् स्वर्लोकमें है और असुरराजकी राजधानी सातवें अधोलोक अर्थात् पातालमें है। देवताओंका पराजय होनेपर देवराजको अपनी राजधानीसे भागना पड़ता है। इतना है कि, असुरलोग देवताओंकी राजधानीको छीनना चाहते हैं, परन्तु देवतालोग कभी भी असुरलोगोंको जय करनेका यत्न नहीं करते। देवता लोग यह भली भांति जानते हैं कि, जब देवतागण और असुरगण अपने अपने लोकोंमें, वास करेंगे तभी उस ब्रह्माण्डका कल्याण बना रहेगा।

इन दोनों प्रकारकी देवयोनियोंके अतिरिक्त और भी बहुत प्रकारकी देवयोनियाँ हैं, जो इन लोकोंमें बसती हैं। उनमें ऋषि और पितृलोकमें जो बसते हैं ये सर्वप्रधान हैं। कर्मराज्यके चलानेवाले देवता कहाते हैं, ज्ञानराज्यके चलानेवाले ऋषि कहाते हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्डके स्थूलराज्यके चलानेवाले पितृ कहाते हैं। देवतालोग ऊर्ध्वलोकमें बसते हैं, ऋषिलोग चौदहो भुवनोंमें बसते हैं और पितृलोग केवल पितृ-लोकमें बसते हैं। ऊंचे सात लोकोंमेंसे भूलोक नामक जो पहिला लोक है उसके चार विभाग हैं, उनके नाम ये हैं:—मृत्युलोक, प्रेतलोक, नरकलोक और पितृलोक। मृत्युलोक वह स्थूल लोक है, जिसको हम अपने नेत्रोंसे देख रहे हैं और जहाँ हम बसते हैं। प्रेतलोक इस मृत्युलोकसे सूक्ष्म है और हमारे चारों ओर बसा हुआ है। प्रेतलोकमें प्रेत बसते हैं। प्रेतोंकी भी बहुत श्रेणियाँ हैं। नरकलोक वह कहाता है कि, जहाँ मृत्युके अनन्तर मनुष्य जाकर नाना दुःख भोगते हैं। हमारे मृत्युलोकके साथ साक्षात् सम्बन्ध रखनेवाला जो साधारण उच्च लोक है उसको पितृलोक कहते हैं। इन कारण हमारा यह मृत्युलोक (जिसको हम अपने नेत्रोंसे देख सकते हैं) हमारे इस ब्रह्माण्डके चौदहें हिस्सेका एक चौथाई हिस्सा है। इन चारों लोकोंके नायक और विशेषत: नरकलोक तथा प्रेतलोकके शासनकर्त्ता यमराज कहाते हैं। जिस प्रकार देवराजका सम्बन्ध उच्च लोकोंसे है, जिस प्रकार असुरराजका सम्बन्ध अधोलोकसे है, उसी प्रकार यमराजका साक्षात् सम्बन्ध नरकलोक और प्रेतलोकसे है। अनेक छोटे छोटे देवता यमराजके अधीन होकर इन दोनों लोकोंके प्रबन्ध करनेमें नियुक्त हैं, जैसे पुलिस हमारी वासभूमिकी रक्षामें नियुक्त रहती है।

हमारे इस मृत्युलोककी सबसे बड़ी प्रधानता है, क्योंकि यह

मृत्युलोक ही कर्मभूमि है। मनुष्य अपने सत्, असत् कर्मोंके प्रभावसे प्रेतलोक, नरकलोक और पितृलोकमें जाता है तथा बार बार घूम घूमकर इन मृत्युलोकमें जन्म ग्रहण करता है. इसीको आवागमन चक्र कहते हैं। मनुष्य ही अपने आसुरी संस्कारके द्वारा सप्त अधोलोकोंमें जाकर असुर बन सकता है, अथवा दैवी संस्कारोंको बढ़ा ऊर्ध्वलोकमें जाकर देवता बन सकता है। इसी तरह इस कर्मभूमि मृत्युलोकमें निष्काम होकर आत्मज्ञानकी सहायतासे मनुष्य, देवदुर्लभ मुक्तिपदको भी प्राप्त कर सकता है। इसी कारण चतुर्दश भुवनके बीचका यह मृत्युलोक सबसे प्रशंसा-योग्य बताया गया है।

दैवी लोकोंके देवता अनेक श्रेणीके होते हैं। उद्भिज्ज अर्थात् वृक्षादि योनिकी प्रत्येक श्रेणीके चलानेवाले देवता अलग अलग हैं। इसी प्रकार स्वेदज-योनि, अण्डज-योनि और जरायुज-योनिकी अलग अलग श्रेणियोंके चलानेवाले देवता अलग अलग कहे गये हैं। चौरासी लक्ष योनियां घूम कर जीव मनुष्ययोनिको प्राप्त करता है। मनुष्य स्वाधीन होकर पाप-पुण्यका अधिकारी होता है। परन्तु इन चौरासी लक्ष योनियोंके जीव अपूर्ण होनेके कारण, स्वाधीन नहीं रहते। वे आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि निज निज प्रकृतिके अनुसार ही करते हैं; स्वाधीनतासे नहीं कर सकते। इसी कारण वे अपने अपने कर्मोंके लिये पाप और पुण्यके अधिकारी नहीं होते हैं। वे पराधीन हैं; इस कारण उनकी अलग अलग श्रेणीके लिये देवता नियुक्त हैं। जीव जब मनुष्य-योनिको प्राप्त करता है तो वह दो लाख जन्म पर्य्यन्त असभ्य मनुष्य-योनि प्राप्त करता रहता है, उसके अनन्तर वह सभ्य जीवनका अधिकारी होता है। मनुष्य-योनिमें जीव पहुंचते ही पहले प्रेत-लोकतक आवागमन करता रहता है, उस समय वह देवताओंकी सहायतासे

ही उच्छृङ्खल नहीं होने पाता यदि ऐसा न होता, तो प्रेतगण इस संसारमें अनेक उपद्रव मचाया करते। उसके अनन्तर मनुष्य जितना जितना सभ्य होता जाता है, उतना उतना उच्च अधिकारको प्राप्त होता जाता है और क्रमशः नरक स्वर्गादिमें पहुंचता रहता है। वर्णाश्रमधर्मकी सहायतासे मनुष्य पितृलोककी पूरी सहायता प्राप्त करता है और क्रमशः आत्मज्ञानका अधिकारी बन जाता है, यही वर्णाश्रम धर्मके साथ दैवराज्यका अलौकिक सम्बन्ध है। और यही चतुर्दशभुवनरूपी ब्रह्माण्डमें ग्रहोपग्रहादिमय स्थूललोक तथा भुवः स्वः अतल पातालादि सूक्ष्मलोकोंका दिग्दर्शन है।

ब्राह्मीशक्तिके द्वारा इस प्रकारसे उत्पन्न ब्रह्माण्ड वैष्णवीशक्तिके प्रभावसे सहस्र सहस्र युगोंतक विद्यमान रहता है। इन्द्रादि लोकपालगण, ऋषिगण, पितृगण ब्रह्माण्डकी स्थिति दशामें इसकी यथानियम रक्षा विधान करते हैं। सो किस शक्तिकी सहायतासे होता है इसके विषयमें बृहदारण्यकोपनिषद्में लिखा है—

"ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति।

स नैव व्यभवत्स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति। स नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च। स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथ अबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः।"

प्रथम सृष्टिके समय सब ब्राह्मण थे, अन्य वर्ण नहीं था। उससे काम नहीं चला। इसलिये परमात्माने पालनादि कार्यके लिये क्षत्रिय वर्णकी उत्पत्ति की. जो पृथिवीमें क्षत्रिय नामसे कहे गये

और दैवजगत्‌में इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु और ईशान इत्यादि नामसे अभिहित हुए। फिर भी केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णसे भी काम पूरा न चला, क्योंकि रक्षार्थ अर्थोपार्जनकी आवश्यकता हुई। इसलिये परमात्माने वैश्यवर्णकी उत्पत्ति की, जो मनुष्य-लोकमें वैश्य कहलाते हैं, वही और दैवजगत्‌में 'गण' नाम प्राप्त करते हैं। देवताओंमें वैश्य यथा—अष्टवसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, त्रयोदश विश्वेदेवा और उनचास मरुद्गण। तदनन्तर उससे भी सब काम नहीं चला। तब सबके लिये परमात्माने शूद्रवर्णकी उत्पत्ति की, दैवलोकमें पोषणकारिणी पृथिवी इस वर्णके अन्तर्गत है और मनुष्यलोकमें शूद्रजाति है। इस प्रकारसे चार वर्णोंकी सृष्टि करनेपर भी व्यवस्था नहीं चली। यद्यपि सुख सबमें बनी रही, कोई किसीका अधीन नहीं रहा। क्षत्रिय प्रबल होकर दुर्बल अन्य वर्णोंको पीड़ित करने लगे अन्य जातियोंमें भी यथेच्छाचार फैलने लगा। तब परमात्माने चार वर्णके ही सम्पात्मक-रूपसे धर्मरूपी महाशक्तिकी उत्पत्ति की, जिसकी अधीनतामें रहकर चारों वर्ण ठीक ठीक अपना अपना कर्म करने लगे और संसारकी सब व्यवस्था ठीक ठीक हो गया। इस प्रकारसे श्रुतिने विश्वके धारणरूपसे धर्मको ही सर्वोपरि वर्णित की है।

> "धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
> धर्मेणैव जगत् सुरक्षितमिदं धर्मो धराधारकः॥"

इत्यादि धर्मकी विश्वरक्षिणी शक्तिके विषयमें अनेक प्रमाण शास्त्रोंमें मिलते हैं। ब्रह्माण्डकी स्थिति-दशामें धर्मकी यह महती शक्ति समस्त विश्वके सब विभागोंमें व्याप्त होकर सभीकी रक्षा किया करती है। समस्त स्थूल ब्रह्माण्डके पाञ्चभौतिक होनेसे पांच प्रकारके परमाणुओंके द्वारा ब्रह्माण्डके समस्त ग्रहोपग्रहोंका

शरीर निर्मित है। प्रत्येक परमाणुके भीतर आकर्षण और विकर्षण नामकी द्व शक्तियां विद्यमान रहती हैं। सृष्टिकालमें ब्रह्माकी प्राणशक्तिके बलसे समस्त परमाणुओंमें आकर्षणशक्ति प्रबल हो जाती है, जिससे अणुओंके संयोग द्वारा द्व्यणुकादिक्रमसे जल, स्थल, वायु और ग्रहोपग्रहादि बन जाते हैं। प्रलयकालमें रुद्रशक्तिके बलसे विकर्षण-शक्तिका प्राबल्य हो जाता है, जिससे समस्त मिलित परमाणु विच्छिन्न हो जाते हैं। ब्रह्माण्डकी स्थितिदशाके न तो आकर्षणका ही प्राबल्य रहता है और न विकर्षणका ही। उस समय दोनोंका ही सामञ्जस्य रहता है। इसी सामञ्जस्यमें द्वारा ब्रह्माण्डके समस्त पदार्थ निज निज आकारमें यथास्थित रह सकते हैं। इस प्रकार आकर्षण और विकर्षणकी समताके लिये दोनों शक्तियोंकी ही प्रेरक तथा दोनोंमें ही व्यापक एक तीसरी शक्तिका प्रयोजन है। धर्म ही वह महती शक्ति है, जो परमाणुओंमें व्याप्त होकर वस्तुगत आकर्षण तथा विकर्षण-शक्तिकी समता स्थापन करती है, जिससे स्थितिदशामें जगत्के समस्त पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें रह सकते हैं। प्रत्येक जड़-वस्तुकी त्रिविध अवस्थायें होती हैं। यथा:—कठिन, तरल और वायवीय। कोई वस्तु कठिन आकारमें रहती है, कोई तरल आकारमें, कोई वायवीय आकारमें। प्रस्तर आदि कठिन (solid) आकारमें जल आदि तरल (liquid) आकारमें और वाष्प आदि वायवीय (gaseous) आकारमें रहते हैं। उत्ताप अथवा शैत्य (शीतलता) के संयोगसे वस्तुके आकारमें परिवर्तन भी हो सकता है। यथाः—तरल जल शैत्य-संयोगसे कठिन बरफ हो सकता है और उत्तापके संयोगसे वायवीय वाष्प भी बन सकता है। इस प्रकारसे अन्यान्य भूतोंके विषयमें भी समझना चाहिये। इस प्रकार त्रिविध आकारमें परिवर्तनशील भूतोंके कुछ साधारण धर्म और

कुछ विशेष धर्म हुआ करते हैं। यथा:—स्थानव्यापकता (extension), स्थानावरोधकता (impenetrability), विभाज्यता (divisibility), सान्तरता (porosity), आकुञ्चनीयता (compressibility), स्थितिस्थापकता (elasticity), जड़त्व (inertia) और गुरुत्व (gravity) ये सब जड़ वस्तुके साधारण धर्म हैं। काठिन्य (solidity), द्रवत्व (fluidity), दृढ़त्व (tenacity), तामसता (melleability) और वर्ण (colour) ये सब जड़वस्तुके असाधारण धर्म हैं। इस प्रकारसे साधारण तथा असाधारण धर्मोंसे संयुक्त जड़वस्तु आकर्षण-विकर्षण शक्तियोंकी समता द्वारा अपने कठिन, तरल या वायवीय आकारमें यथावस्थित तभी रह सकती है, जब जड़वस्तुगत परमाणुओंके भीतर ऐसी कोई चित् (व्यापक) महती शक्ति हो, जो आवश्यकतानुसार जड़वस्तुके अन्तर्गत समस्त धर्मोंका सामञ्जस्य कर सके। वही समता करनेवाली शक्ति धर्मकी है, जिससे ब्रह्माण्डस्थित समस्त वस्तु अपने अपने स्वरूपमें स्थित रहती है। जल अपने तरल आकारमें तभीतक रह सकता है, जबतक जलके उपादानरूपी परमाणुओंके बीचमें आकर्षण विकर्षण शक्तिका ऐसा ही सामञ्जस्य रहे, जिससे न तो जलीय परमाणु परस्पर अतिगाढ़ सन्निवेशसे तरल जलको कठिन बरफ ही न बना देवे और न अधिक दूरवर्ती सन्निवेश द्वारा जलकी तरलताको नष्ट करके उसे वायवीय वाष्प ही बना देवे। इसी प्रकारसे सभी वस्तुमें धर्मशक्तिकी कृपासे सामञ्जस्य बना हुआ है। प्रस्तर (पत्थर) में परमाणुओंका सन्निवेश ऐसा ही प्रगाढ़ है, जिससे प्रस्तरका कठिन शरीर बन सकता है। स्वर्ण रौप्य आदि धातुओंमें भी ऐसे अधिकारके परमाणु इसी प्रकारसे सन्निविष्ट हैं, जिससे उनका शरीर तथा स्वरूप ऐसा मूल्यवान् हो सके। प्रत्येक ग्रह, उपग्रह, जल, स्थल, अग्नि, नक्षत्र

ज्योतिष्क आदि धर्मोंमें धर्मकी ही महती शक्तिके द्वारा इसी प्रकार-से आकर्षण-विकर्षण शक्तिकी समता की गई है, जिससे यह मनोरम संसार सबको नयनगोचर हो रहा है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—इन पांचो तत्वोंसे समस्त संसार बना हुआ है। परन्तु समस्त ब्रह्माण्ड पिण्डमय शरीरोंमें इन पांचो तत्वों-का नियमित परिमाण है, जिससे कोई भी तत्व किसी शरीरमें नियमित विभागसे अधिक या कम नहीं हो सकता है। परिमित पञ्चतत्वोंके परिमाणमें लाघव-गौरव (छोटाई-बड़ाई) होते ही ब्रह्माण्ड अथवा पिण्ड-शरीरका स्वास्थ्य भङ्ग हो जाता है। इससे ब्रह्माण्ड-शरीरमें अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी, दुर्भिक्ष संग्राम आदि रोग और पिण्डशरीरमें वात-पित्त-कफके विकारसे ज्वर, विषूचिका (हैजा), श्लेष्मादि अनेक रोग उत्पन्न हो जाते है। यह धर्मकी ही महिमायुक्त महती शक्ति है जिस कारण पञ्च-तत्वोंमें सामञ्जस्य रहकर ब्रह्माण्डपिण्डके जीवोंकी प्राणरक्षा, शान्तिरक्षा और स्वास्थ्यरक्षा होती है। अनन्त आकाशमें जो अनन्तकोटि ग्रह, उपग्रह, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, धूमकेतु आदि अपनी अपनी कक्षामें सदा घूमा करते हैं, इसपर विचार करनेसे यही सिद्धान्त होता है कि, केवल परस्परके आकर्षण विकर्षणकी समता-के द्वारा ही शून्यमें निराधार रहनेपर भी इतने ग्रह-उपग्रह कोई भी कक्षाच्युत न होकर सभी शृंखलाबद्ध हो कार्य कर रहे हैं। सूर्य सभी ग्रहोंसे बड़े हैं और उनमें आकर्षण-शक्ति भी अधिक है, परन्तु अन्यान्य ग्रहोंके साथ सूर्यका इतनी दूरका सम्पर्क रक्खा गया है, तथा बीचमें अन्यान्य ग्रहोंके विरुद्ध आकर्षण-शक्तिका ऐसा परिमाण रक्खा गया है, जिससे न तो कोई ग्रह अधिक आकृष्ट होकर सूर्यके गर्भमें प्रवेश ही कर सकता है और न विकर्षण-शक्ति द्वारा कक्षाच्युत होकर कहींसे कहीं जा ही सकता है। इस

प्रकारसे आकर्षण-विकर्षणकी समता द्वारा अनन्त शून्यमें घूमती हुई अनन्त ज्योतिष्क मण्डलियाँ कालचक्रमें अनादि कालसे आवर्तन कर रही हैं। यह सब धर्मकी ही धराधारिणी शक्तिका फल है, जिससे अनन्त शून्यमें भी विरुद्ध शक्तियोंकी शृङ्खला बनी हुई है और अनन्त विश्व यथावत् स्थित है। प्रत्येक भूतमें आवश्यकीय क्रियाकारिता तभीतक रह सकती है, जबतक भूतोंको बनानेवाली उनके अन्तर्गत प्राणशक्तिमें समता बनी रहती हो। भूत और शक्तिके बीचमें अनादिकालसे ऐसा सम्बन्ध बना हुआ है जिससे भूतका भूतत्व (भूतपन) सिद्ध हो सकता है। जलमें जो शक्ति है, अग्निमें जो शक्ति है, पृथ्वीमें जो शक्ति है, आकाशमें जो शक्ति है और उनमें जितनी शक्तियाँ हैं, उनका अस्तित्व तथा परिमाण जबतक ठीक ठीक रहेगा तभी तक जल जल रहेगा और जीवनरूपसे जीवका कार्य कर सकेगा, वायु वायु रहेगा और ऋतुओंके अनुसार सबकी स्वास्थ्यरक्षा और प्राणरक्षा कर सकेगा, अग्नि अग्नि रहेगी और उत्ताप तथा प्रकाश कर सकेगी, पृथ्वी पृथ्वी रहेगी और शस्य-समृद्धिशालिनी बनकर जीवोंके रहने योग्य होती रहेगी, आकाश आकाश रहेगा और शब्दोत्पत्ति आदि कार्य कर सकेगा। नहीं तो भूत और शक्तिके बीचका सामञ्जस्य बिगड़ जानेसे कोई भी भूत अपनी सत्ता रखनेमें समर्थ नहीं रहेगा और न उनके द्वारा निर्दिष्ट कार्य ही हो सकेगा। यह धर्मकी ही महिमा है जिससे ब्रह्माण्डकी स्थिति-दशामें भूत और शक्तिके बीचमें सामञ्जस्यकी रक्षा होती है जिससे यह महाप्रकृति अपनी महती लीलाओंको अनायास ही कर सकती है। इस प्रकारसे जड़जगत्में धर्मशक्तिके प्रभावसे ब्रह्माण्डके स्थितिकालमें सकल प्रकारकी व्यवस्थाएँ रहती हैं और जड़जगत्की तरह चेतनजगत्की स्थितिके लिये धर्मशक्ति ही कारणरूप होती है। उद्भिज्जसे लेकर जरायुजकी पशुयोनि पर्यन्त समस्त जीवोंके अन्ना-

ग्डप्रकृतिके अधीन होनेके कारण ब्रह्माण्डप्रकृतिके प्राकृतिक धर्मको ही आश्रय करके संसारमें स्थिति तथा क्रमोन्नति प्राप्त करते हैं। प्रकृतिके समस्त धर्म धीरे धीरे इन जीवोंको आश्रय करते हुए उन्हें मनुष्ययोनिके योग्य बना देते हैं। आत्मरक्षा, तत्परता, स्नेहके साथ सन्तानपालन, ममता, प्रभुभक्ति, वीरता, प्रेम आदि सत्त्वगुणकी धार्मिक वृत्तियाँ यदि पश्वादियोनिके जीवोंमें न होती तो, संसारमें उनकी स्थिति तथा वंशवृद्धि कदापि नहीं हो सकती। तदनन्तर मनुष्ययोनिमें बुद्धितत्त्वके पूर्णविकाशके साथ साथ आनन्दमयकोषका विकाश होनेपर विस्तृत धर्माधिकार जीवोंको प्राप्त होता है। इसी धर्माधिकारके अनुसार अपने कर्त्तव्यका पालन करनेसे तथा यज्ञ, दानादि धर्माङ्गोंका यथाविधि अनुष्ठान करनेसे मनुष्य क्रमशः सात्त्विकप्रकृति पाकर अन्तमें परमानन्दमय निःश्रेयस (मोक्ष) का अधिकारी हो सकता है।

यही जड़चेतनात्मक सृष्टिसे पूर्ण ब्रह्माण्डशरीरकी स्थिति दशाका दिग्दर्शन है।

स्थितितत्त्वके अनन्तर अब प्रलयतत्त्वका वर्णन किया जाता है। श्रीभगवान्की साक्षात् शक्तिरूपिणी ब्राह्मी शक्ति, वैष्णवी शक्ति और रौद्रीशक्तिके त्रिगुण स्वभावानुसार त्रिगुणमयी ब्रह्माण्डप्रकृतिमें एक बार ही कार्यप्रणालीमें होनेसे सृष्टिक्रियाके साथ ही साथ प्रलयक्रिया भी मिली रहती है, ब्राह्मीशक्तिकी आकर्षण-क्रियाके साथ साथ रौद्रीशक्तिकी विकर्षण-क्रिया भी लगी रहती है और जितनी जितनी ब्रह्माण्डप्रकृतिकी आयु पूरी होती जाती है उतनी उतनी आकर्षण-शक्तिकी क्रिया मन्द होकर विकर्षण-शक्तिकी क्रिया प्रबल होती जाती है और अन्तमें समस्त ब्रह्माण्डमें विकर्षणशक्ति या रौद्री शक्ति बलवान् होकर ब्रह्माण्डको महाप्रलयके गर्भमें विलीन कर देती है। यही सृष्टिस्थितिके अनन्तर प्रलयका तत्त्व है। इसी

कारण ब्रह्माण्डप्रकृतिकी गति निम्नाभिमुखिनी है और इसी कारण सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि—इस प्रकारसे ब्रह्माण्डप्रकृति सत्त्वगुणसे तमोगुणकी ओर आती है और इस प्रकारसे चारों युगोंके चक्र चलते चलते भी ब्रह्माण्डप्रकृतिकी गति तमोगुणकी ओर ही होती है और उसीके अनुसार समष्टिजीवोंके संस्कार भी क्रियाकी ओर धीरे धीरे जाना छोड़कर लयकी ओर जाते हैं। अब ब्रह्माण्डप्रकृतिकी आयु तथा चार युगोंमें औपप्रकृतिक विचार करते हुए प्रलयके प्रकार क्रमशः बताये जाते हैं। आर्यशास्त्रमें चार प्रकारके प्रलय बताये गये हैं। यथा विष्णुपुराणमें:—

"नैमित्तिकः प्राकृतिकस्तथैवात्यन्तिको द्विज !
नित्यश्च सर्वभूतानां प्रलयोऽयं चतुर्विधः॥
ब्राह्मो नैमित्तिकस्तत्र यच्छेते जगतः पतिः।
प्रयाति प्राकृते चैव ब्रह्माण्डं प्रकृतौ लयम्॥
ज्ञानादात्यन्तिकः प्रोक्तो योगिनः परमात्मनि।
नित्यः सदैव जातानां यो विनाशो दिवानिशम्॥"

नैमित्तिक, प्राकृतिक, आत्यन्तिक और नित्य—ये चार प्रकारके प्रलय हैं। ब्रह्म-प्रलय अर्थात् खण्ड-प्रलयको नैमित्तिक प्रलय कहते हैं, जो ब्रह्माजीके एक दिनके बाद एक रात्रिके समय होता है, जिसमें ब्रह्माजी निद्रित हो जाते हैं। प्राकृतिक प्रलय महाप्रलयको कहते हैं, जिसमें ब्रह्माण्ड महाप्रकृतिमें लय हो जाता है। ज्ञान द्वारा योगियोंका जो ब्रह्ममें लय हो जाते हैं उसीको आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं और उत्पन्न पदार्थोंका जो रातदिन नाश या लय हो रहा है उसको नित्य प्रलय कहते हैं। इन चारों प्रलयोंमेंसे नित्य और आत्यन्तिक प्रलय पिण्डके सम्बन्धसे होते हैं और नैमित्तिक तथा प्राकृतिक प्रलय ब्रह्माण्डके सम्बन्धसे होते हैं। अब आर्यशास्त्रीय सिद्धान्तानुसार ब्रह्माण्डकी आयुका निर्णय तथा ऊपर उक्त नैमि-

त्तिक और प्राकृतिक प्रलयका काल और रहस्यका निर्णय किया जाता है। विष्णु-पुराणमें कालके विषयमें लिखा है:—

"काष्ठाः पञ्चदश ख्याता निमेषा मुनिसत्तम !
काष्ठास्त्रिंशत्कलास्तास्तु त्रिंशन्मौहूर्त्तिको विधिः ॥
तावत्संख्यैरहोरात्रं मुहूर्त्तैर्मानुषं स्मृतम् ।
अहोरात्राणि तावन्ति मासः पक्षद्वयात्मकः ॥
तैः षड्भिरयनं वर्षं द्वेऽयने दक्षिणोत्तरे ।
अयनं दक्षिणं रात्रिर्देवानामुत्तरं दिनम् ॥
दिव्यैर्वर्षसहस्रैस्तु कृतत्रेतादिसंज्ञितम् ।
चतुर्युगं द्वादशभिस्तद्विभागं निबोध मे ॥
चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम् ।
दिव्याब्दानां सहस्राणि युगेष्वाहुः पुराविदः ॥
तत्प्रमाणैः शतैः सन्ध्या पूर्वा तत्राभिधीयते ।
सन्ध्यांशकश्च तत्तुल्यो युगस्यानन्तरो हि सः ॥
सन्ध्यासन्ध्यांशयोरन्तर्यः कालो मुनिसत्तम !
युगाख्यः स तु विज्ञेयः कृतत्रेतादिसंज्ञितः ॥
कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चैव चतुर्युगम् ।
प्रोच्यते तत्सहस्रञ्च ब्रह्मणो दिवसं मुने !
ब्रह्मणो दिवसे ब्रह्मन् ! मनवश्च चतुर्दश ।
भवन्ति परिमाणञ्च तेषां कालकृतं शृणु ॥
सप्तर्षयः सुराः शक्रो मनुस्तत्सूनवो नृपाः ।
एककाले हि सृज्यन्ते संह्रियन्ते च पूर्ववत् ॥
चतुर्युगाणां संख्याता साधिका ह्येकसप्ततिः ।
मन्वन्तरं मनोः कालः सुरादीनाञ्च सत्तम ! ॥
अष्टौ शतसहस्राणि दिव्यया संख्यया गतिः ।
द्विपञ्चाशत् तथान्यानि सहस्राण्यधिकानि च ॥

त्रिंशत्कोट्यस्तु सम्पूर्णाः संख्याताः संख्यया द्विज !
सप्तषष्टिस्तथान्यानि नियुतानि महामुने ! ॥
विंशतिश्च सहस्राणि कालोऽयमधिकं विना ।
मन्वन्तरस्य संख्येयं मानुषैर्वत्सरैर्द्विज !
चतुर्दशगुणो ह्येष कालो ब्राह्ममहः स्मृतः ।
ब्राह्मो नैमित्तिको नाम तस्यान्ते प्रतिसञ्चरः ॥
तदा हि दह्यते सर्वं त्रैलोक्यं भूर्भुवादिकम् ।
जनं प्रयान्ति तापार्त्ता महर्लोकनिवासिनः ॥
एकार्णवे तु त्रैलोक्ये ब्रह्मा नारायणात्मकः ।
भोगिशय्यागतः शेते त्रैलोक्यग्रासबृंहितः ॥
जनस्थैर्योगिभिर्देवश्चिन्त्यमानोऽब्जसम्भवः ।
तत्प्रमाणां हि तां रात्रिं तदन्ते सृज्यते पुनः ॥
एवं तु ब्रह्मणो वर्षमेवं वर्षशतञ्च तत् ।
शतं हि तस्य वर्षाणां परमायुर्महात्मनः ॥
एकमस्य व्यतीतन्तु परार्द्धं ब्रह्मणोऽनघ !
तस्यान्तेऽभून्महाकल्पः पाद्म इत्यभिधीयते ॥
द्वितीयस्य परार्द्धस्य वर्त्तमानस्य वै द्विज !
वाराह इति कल्पोऽयं प्रथमः परिकीर्त्तितः ॥"

पन्द्रह निमेषोंमें एक काष्ठा होती है, तीस काष्ठाओंमें एक कला होती है, तीस कलाओंमें एक घटिका और दो घटिकाओंमें एक मुहूर्त्त होता है, तीस मुहूर्त्तोंमें मनुष्य लोकका एक अहोरात्र होता है और तीस अहोरात्रोंमें पक्षद्वयात्मक मास होता है, छः मासोंमें एक अयन और उत्तर, दक्षिण नामक दो अयनोंमें एक वर्ष होता है। दक्षिणायन देवताओंकी रात्रि और उत्तरायण देवताओंका दिन है। इस प्रकारसे दैव-दिवारात्रिके हिसाबसे दैव द्वादश सहस्र वर्षोंमें सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि—ये चार युग होते हैं, इनके

विभाग इस प्रकारके है। सत्यादि चार युगोंका परिमाण यथाक्रम चार, तीन, दो और एक सहस्र वर्ष है। प्रत्येक युगके पूर्व सन्ध्याका परिमाण यथाक्रम चार, तीन, दो और एक सौ वर्ष है और सन्ध्यांश भी उतना ही है। सन्ध्या और सन्ध्यांशका मध्यवर्ती (बीचका) जो काल है, वही सत्यादि चार युग हैं। इस हिसाबने मानवीय परिमाणके अनुसार १७२८००० वर्षका सत्ययुग, १२९६००० वर्षका त्रेतायुग, ८६४००० वर्षका द्वापरयुग और ४३२००० वर्षका कलियुग होता है। इन चार युगोंके सहस्रों वार होनेपर ब्रह्माका एक दिन होता है। ब्रह्माके एक दिनमें १४ मनु होते हैं। उनका काल-परिमाण इस प्रकार है। सप्तर्षिगण, सुरगण, इन्द्र, मनु और उनके पुत्र नृपगण--सब एक ही कालमें उत्पन्न और एक ही कालमें विनष्ट होते हैं। कुछ अधिक ७१ चतुर्युगोंमें मनु और सुरगणोंका काल है, जिसको मन्वन्तर कहते हैं। दिव्य संख्यामें मन्वन्तरका परिमाण अष्ट लक्ष द्विपञ्चाशत् सहस्र (८५२०००) वर्ष है। मानुषी संख्यामें उसका परिमाण त्रिंशत् कोटि सप्तषष्टिलक्ष विंशति सहस्र ३०६७२०००० वर्ष है। इस कालका चतुर्दश गुण एक ब्राह्म दिन है। इसके अन्तमें ब्रह्माकी रात्रि होती है, जिसमें नैमित्तिक प्रलय हो जाता है। ब्रह्माकी जाग्रदशामें उनकी प्राण-शक्तिकी प्रेरणासे ब्रह्माण्डका चक्र चलता है। इसलिये जैसे निद्राके समय इन्द्रियां निश्चेष्ट हो जाती हैं, वैसे ही ब्रह्माकी निद्राके समय समस्त ब्रह्माण्डमें क्रियां बन्द हो जाती हैं। इसीको नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। उस समय 'भूर्भुवःस्वः' ये तीन लोक दग्ध हो जाते हैं और महर्लोकके निवासिगण तापसे पीड़ित होकर जन-लोकमें चले जाते हैं। तदनन्तर त्रैलोक्यके जलमय हो जानेपर ब्रह्माण्डव्यापी प्राणशक्तिको अपने भीतर भरकर ब्रह्माजी विष्णुके साथ शेषशय्यापर योगनिद्रामें सो जाते हैं। क्रियाके अनन्तर

निरिक्षणा भी स्वाभाविक ही है। इसलिये महाप्रकृतिके स्वाभाविक नियमानुसार ही ब्रह्माजीमें इस प्रकारकी अन्तर्मुखीनता तथा निश्चेष्टता आ जाती है; जिस कारण ब्रह्माण्ड शरीरमें भी निश्चेष्टता आ जाती है। केवल प्रलयमें भी रहनेकी शक्ति रखनेवाले कुछ योगिगण जनलोकमें जीवित और ध्यान-परायण रहते हैं। जनलोकस्थ इन योगियोंके द्वारा चिन्मयमान कमल-योनि ब्रह्मा इस प्रकारसे ब्राह्मदिवाके तुल्य ब्राह्मरात्रिको योगनिद्रामें बितानेके अनन्तर फिर ब्राह्मदिवाके उदयमें जागकर समस्त ब्रह्माण्डकी सृष्टि करते हैं। इस प्रकार दिवारात्रिकी गणनासे सौ वर्ष ब्रह्माजीकी आयु है, जिसके अन्तमें ब्रह्माजी परब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं। वर्त्तमान समयमें ब्रह्माकी आयुका एक परार्द्ध बीत चुका है। उस परार्द्धके अन्तमें पद्म नामक महाकल्प हो गया है। वर्त्तमान द्वितीय परार्द्धका यह प्रथम दिन अर्थात् प्रथम कल्प चल रहा है, जिसको 'वराहकल्प' कहते हैं। इस वराह कल्पमें भी कृष्ण-वराहकल्प, रक्तवराहकल्प आदि कई कल्प बीत चुके हैं। अब वर्त्तमान समयमें 'श्वेतवराहकल्प' चल रहा है। यही आर्यशास्त्रके सिद्धान्तानुसार कालका विभाग है। जिसके अनुसार ब्रह्माण्डप्रकृति महाकालके महान् चक्रमें अनादिकालसे घूम रहे हैं।

नैमित्तिक तथा प्राकृतिक प्रलयके विषयमें सभी पुराणोंमें विस्तारित वर्णन मिलते हैं। उनमेंसे विष्णुपुराणके नैमित्तिक प्रलयका वर्णन नीचे दिया जाता है। यथाः—

"चतुर्युगसहस्रान्ते क्षीणप्राये महीतले।
अनावृष्टिरतीवोग्रा जायते शतवार्षिकी॥
ततो यान्यल्पसाराणि तानि सत्त्वान्यशेषतः।
क्षयं यान्ति मुनिश्रेष्ठ! पार्थिवान्यत्र पीडनात्॥
ततः स भगवान् विष्णुरुद्ररूपधरोऽव्ययः।

क्षयाय यतते कर्त्तुमात्मस्थाः सकलाः प्रजाः॥
ततः स भगवान् विष्णुर्भानोः सप्तसु रश्मिषु।
स्थितः पिबत्यशेषाणि जलानि मुनिसत्तम!
सरित्समुद्रशैलेषु शैलप्रस्रवणेषु च।
पातालेषु च यत्तोयं तत्सर्वं नयति क्षयम्॥ (इत्यादि)

हजार बार चारों युगोंके अनन्तर महीतलके नष्ट हो जानेसे सौ वर्षों तक कठोर अनावृष्टि होती है, जिसमें अल्पसार समस्त जीव नष्ट हो जाते हैं। तदनन्तर भगवान् रुद्ररूप धारण करके समस्त प्रजाको अपनेमें लय करनेका उद्योग करते हैं। रुद्ररूपी भगवान् प्रलयके लिये सप्तविध सूर्यकिरणोंमें रहकर समस्त जलको पी लेते हैं। इस प्रकारसे समस्त पृथिवीतलके सूखनेपर नदी, समुद्र, पर्वत, झरने और पातालमें जितना जल है सब शुष्क हो जाता है। जलपानसे पुष्ट सप्त किरणें सप्तसूर्यके रूपमें प्रकाशित होती हैं जिससे ऊपर नीचे—समस्त भुवन जलने लगता है इस प्रकारसे त्रिभुवनके शुष्क और उसके सभी वृक्षादिकोंके शुष्क होनेपर पृथिवी कूर्म-पृष्ठकी तरह दिखने लगती है। इसके पीछे अनन्तदेवके निःश्वाससे उत्पन्न कालानल पाताल-समूहको भस्मसात् कर देता है और पातालको भस्मसात् करके पृथिवीतलको, भुवर्लोक और स्व-र्लोकको भी भस्मसात् कर देता है। प्रखर कालानलके तेजसे नष्ट समस्त चराचर त्रिभुवन उस समय एक भर्जनकटाह (भूननेकी कड़ाही) की तरह दिखने लगता है। उस समय लोकद्वयवासी महात्मागण अनल (अग्नि) के तापसे पीड़ित होकर महर्लोकका आश्रय करते हैं और वहां भी ठिकाना न पाकर जनलोकमें चले जाते हैं। तदनन्तर रुद्ररूपी भगवान् मुखनिश्वाससे मेघोंको उत्पन्न करते हैं। विद्युत् तथा वज्रकी ध्वनिसे युक्त गजाकार (हाथीके आकार) ये सब संवर्त्तक नामक मेघ आकाशको ढककर

भीषण धारसे वृष्टि करके उन सब अनलोंकी शान्ति कर देते हैं। अनलशान्तिके बाद शतवर्षतकके प्रचण्ड वर्षणसे समस्त जगत् बहने लग जाता है। तदनन्तर भुवर्लोक और स्वर्लोक भी उसी निरन्तर जलधारासे बह जाते हैं। उस समय समस्त लोक अन्धकारमय और स्थावर-जङ्गम-समस्त पदार्थ नष्ट हो जाते हैं तथा शतवर्षसे भी अधिक काल तककी धारासे जलवर्षण होता है। इस प्रकारसे जब सतर्षियोंके स्थानतक जलमय हो जाते हैं तब सारा भुवन एक भयावने महासमुद्रकी तरह दिखने लगता है। इसके बाद परमात्माके अधिष्ठाता ब्रह्माके मुखसे श्वासरूपमें निकला हुआ प्रचण्ड पवन समस्त मेघमालाको विनष्ट करके शतवर्ष तक प्रवाहित होता है और उसी पवनका पान करके ब्रह्माजी शेषशय्यापर योगनिद्रामें शयन कर जाते हैं। इसीका नाम नैमित्तिक प्रलय है, क्योंकि, सृष्टिके निमित्तरूप ब्रह्माजी इसमें शयन करते हैं।

नैमित्तिक प्रलय तथा प्रलयान्तर पुनः सृष्टि—इस प्रकारसे ब्रह्माण्डप्रकृतिकी गति नीचेकी ओर होती होती सहस्रों बार चतुर्युग बीत जाया करते हैं और जैसे कि, पहले संख्या बताई गई है, उसके अनुसार दिवारात्रिके क्रमसे ब्रह्माकी आयु भी घटती जाती है। अन्तमें ब्रह्माकी आयु जब सौ वर्षोंमें पूर्ण हो जाती है तब ब्रह्मा ब्रह्ममें लय हो जाते हैं। और इस प्रकारसे ब्रह्मा, विष्णुके लय होते होते जब रुद्रका लय होता है तभी प्राकृतिक प्रलय अर्थात् महाप्रलयका उदय होता है। उसके कालके विषयमें * ग्रन्थान्तरमें विस्तृत वर्णन किया गया है। अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है। यही आर्य शास्त्रानुसार ब्रह्माण्डका सृष्टिस्थितिप्रलयतत्त्व है।

—०:%:०—

* महाप्रलयके कालनिर्णयके विषयमें 'नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत' नामक ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

श्रीभारतधर्म महामण्डलके सभ्यगण और मुखपत्र ।

श्रीभारतधर्म महामण्डल प्रधान कार्यालय काशीसे एक हिन्दी और अंग्रेजी भाषाका सम्मिलित मासिकपत्र एवं प्रान्तीय कार्यालयोंसे अन्यान्य भाषाओंके कई मासिक पत्र प्रकाशित होते हैं।

श्रीमहामण्डलके पाँच श्रेणीके सभ्य होते हैं। यथाः—स्वाधीन नरपति और प्रधान प्रधान धर्माचार्यगण संरक्षक होते हैं। भारतवर्षके सब प्रान्तोंके बड़े बड़े जमींदार सेठ साहूकार आदि सामाजिक नेता उस उस प्रान्तके चुनावके द्वारा प्रतिनिधि सभ्य चुने जाते हैं। प्रत्येक प्रान्तोंके अध्यापक ब्राह्मणोंमेंसे उस उस प्रान्तीय मण्डल द्वारा चुने जाकर धर्मव्यवस्थापक सभ्य बनाये जाते हैं। भारतवर्षके सब प्रान्तोंसे पाँच प्रकारके सहायक सभ्य लिये जाते हैं, विद्यासम्बन्धीय सहायक सभ्य, धर्मकार्य करनेवाले सहायक सभ्य, महामण्डल, प्रान्तीय मण्डल और शाखा सभाओंको धन दान करनेवाले सहायक सभ्य, विद्वान् ब्राह्मण सहायक सभ्य और साधु संन्यासी सहायक सभ्य। पाँचवीं श्रेणीके सभ्य साधारण सभ्य कहाते हैं जो २॥) वार्षिक देनेसे हिन्दू स्त्री पुरुष हो सकते हैं। इन सब प्रकारके सभ्यों और श्रीमहामण्डलका प्रान्तीय मण्डल, शाखा सभा और संयुक्त सभाओंको श्रीमहामण्डलका हिन्दी-अंग्रेजी मासिक पत्र बिना मूल्य दिया जाता है। इसके अतिरिक्त समाजहितकारी कोषके द्वारा उनके उत्तराधिकारियोंको विशेष लाभ मिलता है। पत्र व्यवहार इस पतेपर करें—

प्रधानाध्यक्ष,

श्रीभारतधर्म महामण्डल, जगत्गञ्ज, काशी।

सनातन धर्मकी पुस्तकें।

धर्मकल्पद्रुम।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

यह हिन्दूधर्मका अद्वितीय और परमावश्यक ग्रन्थ है। हिन्दू जातिकी पुनरुन्नतिके लिये जिन जिन आवश्यकीय विषयोंकी जरूरत है, उनमेंसे सबसे बड़ी भारी जरूरत एक ऐसे धर्मग्रन्थकी थी कि, जिसके अध्ययन अध्यापनके द्वारा सनातनधर्मका रहस्य और उसका विस्तृत स्वरूप तथा उसके अंग उपांगोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके और साथ ही साथ वेदों और सब शास्त्रोंका आशय तथा वेदों और सब शास्त्रोंमें कहे हुए सिद्धान्तोंका यथाक्रम स्वरूप जिज्ञासुको भलीभांति विदित हो सके। इसी गुरुतर अभावको दूर करनेके लिये भारतके प्रसिद्ध धर्मवक्ता और श्रीभारतधर्म-महामण्डलस्थ उपदेशक महाविद्यालयके दर्शनशास्त्रके अध्यापक श्रीमान् स्वामी दयानन्दजी महाराजने इस ग्रन्थका प्रणयन किया है। इस ग्रंथसे आजकलके अशास्त्रीय और विज्ञानरहित धर्मग्रंथों और धर्मप्रचारके द्वारा जो हानि हो रही है, वह सब दूर होकर यथार्थरूपसे सनातन वैदिक धर्मका प्रचार होगा। इस ग्रन्थरत्नमें साम्प्रदायिक पक्षपातका लेशमात्र भी नहीं है और निष्पक्षरूपसे सब विषय प्रतिपादित किये गये हैं, जिससे सकल प्रकारके अधिकारी कल्याण प्राप्त कर सकें। इसमें और भी एक विशेषता यह है कि, हिन्दूशास्त्रके सभी विज्ञान शास्त्रीय प्रमाणों और युक्तियोंके सिवाय, आजकलकी पदार्थ विद्या (Science) के द्वारा भी प्रतिपादित किये गये हैं, जिससे आजकलके नवशिक्षित पुरुष भी इससे लाभ उठा सकें। इसके छः खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं प्रथम खण्डका मूल्य २), द्वितीयका २॥), तृतीयका २), चतुर्थका २), पंचमका २), और षष्ठका १॥) है। इसके प्रथम दो खण्ड बढ़िया कागजपर भी छापे गये हैं और दोनों ही एक बहुत सुन्दर जिल्दमें बांधे गये हैं। मूल्य ५) है। सातवां खण्ड यंत्रस्थ है।

प्रवीण दृष्टिमें नवीन भारत।

श्रीस्वामी दयानन्द सम्पादित।

इस ग्रंथमें आर्य्यजातिका आदिका वासस्थान, उन्नतिका आदर्श निरूपण, शिक्षादर्श, आर्य्यजीवन, वर्णधर्म आश्रमधर्मआदि विषय वैज्ञानिक युक्ति तथा शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ वर्णित किये गये हैं। यह ग्रन्थ धर्मशिक्षाके अर्थ बी. ए. क्लासका पाठ्य है। मूल्य २)

नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत।

श्रीस्वामी दयानन्द सम्पादित।

भारतका प्राचीन गौरव और आर्यजातिका महत्त्व जाननेके लिये यह एक ही पुस्तक है। इसका द्वितीय संस्करण परिवर्द्धित और सुंदर होकर छप चुका है। यह ग्रन्थ भी बी० ए० क्लासका पाठ्य है। मूल्य १)

साधनचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

इसमें मंत्रयोग, हठयोग, लययोग, और राजयोग इन चारों योगोंका संक्षेपमें अति सुंदर वर्णन किया गया है। यह ग्रंथ प्रथम वार्षिक एफ. ए. क्लासका पाठ्य है। मूल्य १॥)

शास्त्रचन्द्रिका।

इसमें वेद, उपनिषद्, पुराण, दर्शन, स्मृति आदि सब शास्त्रोंका सारांश दिया गया है। धर्मशिक्षा लक्ष्यको सामने रखकर यह ग्रंथ भी प्रणीत हुआ है। इसके द्वारा स्कूल, कालेज, पाठशालाओंके कार्यकर्त्तागण तथा बालकोंके मातापितागण बालकोंको धर्मशिक्षा देकर लाभवान् होंगे। मूल्य १॥)

धर्मचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

एन्ट्रेंस क्लासके बालकोंके पाठनोपयोगी उत्तम धर्मपुस्तक हैं। इसमें सनातनधर्मका उदार सार्वभौम स्वरूपवर्णन, यज्ञ, दान, तप आदि धर्माङ्गोंका विस्तृत वर्णन, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, नारीधर्म, आर्यधर्म, राजधर्म तथा प्रजाधर्मके विषयमें बहुत कुछ लिखा गया है। कर्मविज्ञान, सन्ध्या, पञ्चमहायज्ञ आदि नित्यकर्मोंका वर्णन, षोडश संस्कारोंके पृथक पृथक वर्णन और संस्का-

स्मृति तथा क्रियाशुद्धि द्वारा मोक्षका यथार्थ मार्ग निर्देश किया गया है। मूल्य १)

आर्य गौरव।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

आर्यजातिका महत्त्व जाननेके लिये यह एक ही पुस्तक है। यह ग्रंथ स्कूलकी ६वीं तथा १०वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ॥)

आचारचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

यह भी स्कूलपाठ्य सदाचार सम्बन्धीय धर्मपुस्तक है। इसमें प्रातःकालसे लेकर रात्रिमें निद्राके पहले तक क्या सदाचार किस लिये प्रत्येक हिंदु संतानको अवश्य ही पालने चाहिये, इसका रहस्य उत्तम रीतिसे बताया गया है और आधुनिक समयके विचारसे प्रत्येक आचारपालनका वैज्ञानिक कारण भी दिखाया गया है। यह स्कूलकी ८ वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ॥)

नीतिचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

मानवीय जीवनका उन्नत होना नीतिशिक्षापर ही अवलम्बित होता है। कोमलमति बालकोंके हृदयोंपर नीतितत्त्वअंकित करनेके उद्देश्यसे यह पुस्तिका लिखी गई है। इसमें नीतिकी सब बातें ऐसी सरलतासे समझाई गई हैं कि, इस पुस्तकके ही पाठसे नीतिशास्त्रका ज्ञान हो सकता है। यह स्कूल की ७ वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ॥)

चरित्रचन्द्रिका।

सम्पादक पं० गोविन्दशास्त्री दुगवेकर।

इस ग्रन्थमें पौराणिक ऐतिहासिक और आधुनिक महापुरुषोंके सुन्दर मनोहर विचित्र चरित्र वर्णित हैं। यह ग्रन्थ स्कूलकी ६ ठीं कक्षाका पाठ्य है। प्रथम भागका मूल्य १) और दूसरे भागका १)

धर्मप्रश्नोत्तरी।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

सनातनधर्मके प्रायः सब सिद्धान्त अतिसंक्षिप्तरूपसे इस

पुस्तिकामें लिखे गये हैं। प्रश्नोत्तरकी प्रणाली ऐसी सुन्दर रक्खी गई है कि, छोटे बच्चे भी धर्मतत्वोंको भलीभांति हृदयङ्गम कर सकेंगे। भाषा भी अतिसरल है। यह ग्रन्थ स्कूलकी ४ थी कक्षाका पाठ्य है। कागज और छपाई बढ़िया होनेपर भी मूल्य केवल ।) मात्र है।

परलोक रहस्य।

श्रीमान् स्वामी दयानन्द विरचित।

मनुष्य मरकर कहां जाता है, उसकी क्या गति होती है, इस विषयपर वैज्ञानिक युक्ति तथा शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ विस्तृत-रूपसे वर्णन है। मूल्य ।)

चतुर्दशलोक रहस्य।

श्रीमान् स्वामी दयानन्द विरचित।

स्वर्ग और नरक कहाँ और क्या वस्तु है, उनके साथ हमारे इस मृत्युलोकका क्या सम्बन्ध है इत्यादि विषय शास्त्र और युक्तिके साथ वर्णित किये गये हैं। मूल्य ।)

सती-चरित्र-चन्द्रिका।

श्रीमान् पं० गोविन्दशास्त्री दुगवेकर सम्पादित।

इस पुस्तकमें सीता, सावित्री, गार्गी, मैत्रेयी आदि ४४ सती स्त्रियोंके जीवनचरित्र लिखे गये हैं। मूल्य २)

नित्य कर्म चन्द्रिका।

इस ग्रन्थमें प्रातःकालसे लेकर रात्रिपर्यन्त हिन्दुमात्रके अनुष्ठान करने योग्य नित्य कर्म वैदिक तांत्रिक मन्त्रोंके साथ भलीभांति वर्णित किये गये हैं। मूल्य ।)

धर्मसोपान।

यह धर्मशिक्षा विषयक बड़ी उत्तम पुस्तक है। बालकोंको इससे धर्मका साधारण ज्ञान भलीभांति हो जाता है। यह स्कूलकी ५ वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ।) आना।

धर्म-कर्म-दीपिका।

इस पुस्तकमें कर्मका स्वरूप, कर्मके भेद, संस्कारके लक्षण और भेद, वैदिक संस्कारोंका रहस्य, विविध कर्मका वैज्ञानिक

स्वरूप, कर्मसम्बन्धसे मुक्ति, कर्मके साथ धर्मका मिश्र सम्बन्ध, धर्मरूप कल्पद्रुमका विस्तृत वर्णन, वर्णाश्रम धर्मकी महिमा और विज्ञान, उपासनारहस्य, उपासनाकी मूलभित्तिरूप पीठरहस्य, धर्म कर्म और यज्ञ शब्दोंका वैज्ञानिकरहस्य और सदाचारका विज्ञान और महत्त्व प्रतिपादन किया गया है, यह ग्रन्थ मूल और सुस्पष्ट हिन्दी-अनुवाद-सहित शास्त्रीय प्रमाण देकर छापा गया है, यह ग्रंथरत्न प्रत्येक सनातनधर्मावलम्बीके लिये उपादेय है। मूल्य ॥)

सदाचारसोपान ।

यह पुस्तक कोमलमति बालक बालिकाओंकी धर्मशिक्षाके लिये प्रथम पुस्तक है। यह स्कूलकी तीसरी कक्षाका पाठ्य है। मूल्य -) एक आना।

कन्याशिक्षासोपान ।

कोमलमति कन्याओंको धर्मशिक्षा देनेके लिये यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। मूल्य -)

ब्रह्मचर्यसोपान ।

ब्रह्मचर्य्यव्रतकी शिक्षाके लिये यह ग्रंथ बहुत उपयोगी है। सब ब्रह्मचारी आश्रम, पाठशाला और स्कूलोंमें इस ग्रंथकी पढ़ाई होनी चाहिये। मूल्य ।) आना।

राजशिक्षासोपान ।

राजा महाराजा और उनके कुमारोंको धार्मिक शिक्षा देनेके लिये यह ग्रंथ बनाया गया है, परंतु सर्वसाधारणकी धर्मशिक्षाके लिये भी यह ग्रंथ बहुत ही उपयोगी है, इसमें सनातनधर्मके अंग और उसके तत्त्व अच्छी तरह बताये गये हैं मूल्य =) तीन आना।

साधनसोपान ।

यह पुस्तक उपासना और साधनशैलीकी शिक्षा प्राप्त करनेमें बहुत ही उपयोगी है। मूल्य ।) चार आना।

शास्त्रसोपान ।

सनातनधर्मके शास्त्रोंका संक्षेप सारांश इस ग्रंथमें वर्णित है। मूल्य ।) चार आना।

धर्मप्रचारसोपान ।

यह ग्रंथ धर्मोपदेश देनेवाले उपदेशक और पौराणिक पण्डितों के लिये बहुत ही हितकारी है। मूल्य ≈) आना।

उपदेशपारिजात ।

यह संस्कृत गद्यात्मक अपूर्व ग्रंथ है। सनातनधर्म क्या है, धर्मोपदेश किसको कहते हैं, सनातनधर्मके सब शास्त्रोंमें क्या २ विषय हैं, धर्मवक्ता होनेके लिये किन २ योग्यताओंके होनेकी आवश्यकता है, इत्यादि अनेक विषय इस ग्रन्थमें हैं। संस्कृत विद्वान्समाजको पढ़ना उचित है और धर्मवक्ता, धर्मोपदेशक, पौराणिक पण्डित आदिके लिये तो यह ग्रंथ सब समय साथ रखने योग्य है। मूल्य ॥) आना।

कल्किपुराण ।

कल्किपुराणका नाम किसने नहीं सुना है? इस कलियुगमें कल्कि महाराज अवतार धारणकर दुष्टोंका संहार करेंगे, उसका पूर्ण वृत्तान्त है। वर्तमान समयके लिये यह बहुत हितकारी ग्रंथ है। विशुद्ध हिंदी अनुवाद और विस्तृत भूमिका सहित यह ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। धर्मजिज्ञासुमात्रको इस ग्रंथको पढ़ना उचित है। मूल्य १॥)

योगदर्शन ।

हिन्दीभाष्यसहित। इस प्रकारका हिन्दी भाष्य और कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है। सब दर्शनोंमें योगदर्शन सर्वथावि सम्मत दर्शन है। प्रत्येक सूत्रका भाष्य प्रत्येक सूत्रके आदिमें भूमिका देकर ऐसा क्रमबद्ध बना दिया गया है कि, जिससे पाठकोंको मनोनिवेशपूर्वक पढ़नेपर कोई असम्बद्धता नहीं मालूम होगी। मूल्य २) दो रुपया।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलरहस्य ।

इस ग्रंथमें सात अध्याय हैं। यथा आर्य्यजातिकी दशाका परिवर्तन, चिंताका कारण, व्याधिनिर्णय, औषधिप्रयोग, सुपथ्यसेवन, बीजरक्षा और महायज्ञसाधन। मूल्य १)

निगमागमचन्द्रिका ।

प्रथम, द्वितीय, पञ्चम और षष्ठ भाग धर्मानुरागी सज्जनोंको

मिल सकते हैं। इन भागोंमें सनातनधर्मके अनेक गूढ़ रहस्यसम्बंधी ऐसे ऐसे प्रबंध प्रकाशित हुए हैं कि, आजतक वैसे धर्मसम्बंधी प्रबंध और कहीं भी प्रकाशित नहीं हुए हैं। प्रत्येकका मूल्य १)

मन्त्रयोगसंहिता।

भाषानुवादसहित। योगविषयक ऐसा अपूर्व ग्रंथ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ है। मू० १) एक रु०।

हठयोग संहिता।

भाषानुवादसहित। योगविषयक ऐसा अपूर्व ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें हठयोगके ७ अंग और क्रमशः उनके लक्षण साधनप्रणाली आदि सब अच्छी तरहसे वर्णन किये गये हैं। मूल्य ॥।)

तत्त्वबोध।

भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणीसहित। यह मूल वेदान्त ग्रन्थ श्रीशंकराचार्य्यकृत है। मूल्य =)

स्तोत्र कुसुमाञ्जलि।

इसमें पंचदेवता, अवतार और ब्रह्मकी स्तुतियोंके साथ साथ आजकलकी आवश्यकतानुसार धर्मस्तुति, गंगादि पवित्र तीर्थोंकी स्तुति, वेदान्तप्रतिपादक स्तुतियां और काशीके प्रधान देवता श्रीविश्वनाथादिकी स्तुतियां हैं। मू० ।) आना।

दैवीमीमांसादर्शन प्रथम भाग।

यह ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ था। इसके चार पाद हैं, यथाः—प्रथम रसपाद, इस पादमें भक्तिका विस्तारित विज्ञान वर्णित है। दुसरा सृष्टिपाद, तीसरा स्थितिपाद और चौथा लयपाद, इन तीनो पादोंमें दैवीमाया, देवताओंके भेद, उपासनाका विस्तारित वर्णन और भक्ति तथा उपासनासे मुक्तिकी प्राप्तिका सब कुछ विज्ञान वर्णित है। मूल्य १॥) डेढ़ रुपया।

श्रीमद्भगवद्गीता प्रथम खण्ड।

श्रीगीताजीका अपूर्व हिन्दी-भाष्य यह प्रकाशित हो रहा है, जिसका प्रथम खण्ड, जिसमें प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्यायका कुछ हिस्सा है, प्रकाशित हुआ है। मूल्य १) एक रु०।

सप्त गीताएं।

पञ्चोपासनाके अनुसार पांच प्रकारके उपासकोंके लिये पांच गीताएं—श्रीविष्णुगीता, श्रीसूर्य्यगीता, श्रीशक्तिगीता, श्रीधीशगीता और श्रीशम्भुगीता एवं संन्यासियोंके लिये संन्यासगीता और साधकोंके लिये गुरुगीता भाषानुवादसहित छप चुकी हैं। विष्णुगीताका मूल्य १) सूर्य्यगीताका मूल्य ॥) शक्तिगीताका मूल्य १) धीशगीताका मूल्य ॥।) शंभुगीताका मूल्य १) संन्यासगीताका मूल्य ॥।) और गुरुगीताका मूल्य ।) है। इनमेंसे पञ्चोपासनाकी पांच गीताओंमें एक एक तीनरंगा विष्णुदेव, सूर्य्यदेव, भगवती और गणपतिदेव तथा शिवजीका चित्र भी दिया गया है। शम्भुगीतामें वर्णाश्रमबंध नामक चित्र भी देखने योग्य है।

"THE WORLD'S ETERNAL RELIGION"

A Unique work on Hinduism in one volume, containing 24 Chapters with tricolour illustrations, glossary, etc. No work has hitherto appeared in English that gives in a suggestive manner the real exposition of the Hindu religion in all its phases. The book has perfectly supplied this long-felt want. Names of the chapters are as follows:—1, Foreword. 2. Universal Religion, 3. Classification of Religion. 4. Law of Karma, 5 Worship in all its phases, 6. Practice of Yoga through Mantras, 7. Practice of Yoga through physical exercise, 8. Practice of Yoga through finer force of Nature, 9. Yoga through power of reasoning. 10 the Mystic Circle, 11. Love and Devotion. 12. Planes of Knowledge, 13. Time, space, creation. 14. the Occult world, 15. Evolution and Reincarnation. 16. Hindu philosophy. 17. The System of Castes and Stages of Life, 18. Woman's Dharma. 12. Image Worship. 20. The great Sacrifices. 21. Hindu Scriptures, 22. Liberation. 23. Education, 24. Reconciliation of all Religions. The followers of all religions in the world will profit by the light the work is intended to give. Price cloth bound, superior edition Rs. 5, Ordinary edition Rs. 3, postage extra.

श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी महापरिषद्

कार्यसम्पादिकाः—हर हाईनेस धर्म-सावित्री महारानी शिव कुमारी देवी, नरसिंह गढ़।

भारतवर्षकी प्रतिष्ठित रानी-महारानियों तथा विदुषी भद्र महिलाओंके द्वारा, श्रीभारतधर्म महामण्डलकी निरीक्षकतामें आर्य-माताओंकी उन्नतिकी सदिच्छासे यह महापरिषद् श्रीकाशीपुरीमें स्थापित की गई है। इसके निम्न लिखित उद्देश्य हैं—

(क) आर्य महिलाओंकी उन्नतिके लिये नियमित कार्यव्यवस्थाका स्थापन (ख) श्रुति-स्मृति प्रतिपादित पवित्र नारी-धर्मका प्रचार (ग) स्वधर्मानुकूल स्त्री-शिक्षाका प्रचार (घ) पारस्परिक प्रेम स्थापित कर हिन्दु सतियोंमें एकताकी वृद्धि (ङ) सामाजिक कुरीतियोंका संशोधन और (च) हिन्दीकी उन्नति करना।

परिषद्के विशेष नियम—१-सब प्रकारकी सभ्याओंको इसकी मुख पत्रिका "आर्य महिला" मुफ्त मिलेगी। २-स्त्रियाँ ही सभ्याएँ हो सकेंगी। ३-यदि पुरुष भी परिषद्की किसी तरहकी सहायता करें, तो वे पृष्ठपोषक समझे जायंगे और उनको भी पत्रिका मुफ्त मिला करेगी। ४-परिषद्की चार प्रकारकी सभ्याओंके ये नियम हैं:—

(क) कमसे कम १५०) एक बार देने पर "आजीवनसभ्या" (ख) १०००) एक ही बार या प्रति मास १०) देने पर "संरक्षक सभ्या" (ग) १०) वार्षिक देने पर "सहायक सभ्या" और (घ) ५) वार्षिक देने पर या असमर्थ होनेसे ३) ही वार्षिक देने पर "सहयोगी सभ्या" आर्य महिला मात्र बन सकती हैं।

कार्याध्यक्ष,
आर्यमहिला-हितकारिणी
महापरिषत्कार्यालय,
श्रीमहामण्डलभवन, जगत्गञ्ज, बनारस।